मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

वर्ष : 45
अंक : 1

जनवरी - मार्च 2024

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

विधायन विशेषांक

उत्तराखण्ड शासन

आज़ादी का अमृत महोत्सव

एक ही लक्ष्य-एक ही सपना
सर्वश्रेष्ठ बने उत्तराखण्ड अपना

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

आगे बढ़ता उत्तराखण्ड

• मुख्यमंत्री सीमान्त क्षेत्र विकास योजना (एमबीएडीपी)- उत्तराखण्ड राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सीमा से सटे पांच जनपदों क्रमशः चम्पावत, पिथौरागढ़, चमोली, उत्तरकाशी एवं उ0सि0नगर के 09 सीमान्त विकासखण्डों में आवासित परिवारों को सामुदायिक / समग्र विकास आधारित आजीविका सृजन, स्वरोजगार हेतु कौशल विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन तथा मूल्य संर्वधन, विपणन आदि आवश्यक सतत् आजीविका के संसाधन एवं सुविधायें ससमय उपलब्ध कराना है ताकि सीमान्त क्षेत्रों में पलायन को भी रोका जा सके। वित्तीय वर्ष 2022-23 में कुल ₹ 2000.00 लाख की धनराशि सीमान्त जनपदों हेतु स्वीकृत की गई. जिसके सापेक्ष रू0 शत प्रतिशत धनराशि जनपदों को अवमुक्त की जा चुकी है।

• मुख्यमंत्री पलायन रोकथाम योजना का मुख्य उद्देश्य पलायन तथा ग्राम्य विकास निवारण आयोग द्वारा चिन्हित गांवों में आवासित परिवारों / बेरोजगार युवाओं / रिवर्स माइग्रेन्ट्स आदि को स्वरोजगार को उपलब्ध कराने हेतु वर्तमान में कियान्वित विभिन्न विभागीय योजनाओं तथा गैप फिलिंग के रूप में इस योजना के तहत आवश्यक वित्तीय सहायता के माध्यम पलायन रोकना तथा रिर्वस पलायन को बढ़ावा देना है। वित्तीय वर्ष 2022-23 में कुल ₹ 2500 लाख की धनराशि स्वीकृत की गई, जिसके सापेक्ष शत प्रतिशत धनराशि जनपदों को अवमुक्त की जा चुकी है।

• वीर चन्द्र सिंह गढ़वाली पर्यटन स्वरोजगार योजना में वित्तीय वर्ष 2022-23 में 285, वित्तीय वर्ष 2023-24 में सितम्बर, 2023 तक 95 योजना प्रारम्भ (वर्ष 2002) से आतिथि तक 7257 लाभार्थियों को लाभान्वित किया गया।

• दीन दयाल उपाध्याय गृह आवास (होम स्टे) विकास योजना के अंतर्गत वित्तीय वर्ष 2022- 23 में 222, वित्तीय वर्ष 2023 - 24 में सितम्बर 2023 तक 61, योजना प्रारम्भ से आतिथि तक 671 लाभार्थियों को लाभान्वित किया गया।

• ट्रैकिंग ट्रक्शन सेंटर होम स्टे के अन्तर्गत 06 जनपदों में 16 ट्रैकिंग ट्रैक्शन सेन्टर के अन्तर्गत 99 गांव को अब तक अधिसूचित किया गया है तथा 304 व्यक्तियों का चयन योजना का लाभ प्रदान किया जा चुका है।

• पर्यटन मंत्रालय भारत सरकार द्वारा आयोजित Best Tourism Village Competition के अन्तर्गत जनपद पिथौरागढ के सरमोली गांव को भारत सरकार की गोल्ड कैटेगरी में Best Tourism Village का अवार्ड प्रदान किया गया।

सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, उत्तराखण्ड द्वारा जनहित में जारी

www.uttarainformation.gov.in UttarakhandDIPR DIPR_UK UttarakhandDIPR

आरएनआई 32486/78 आईएसएसएन 2582-4481

₹ 200/-

अतिथि संपादक
प्रो. सुनील के. चौधरी

संपादक मंडल
श्री रामबहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
प्रो. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

सह-संपादक मंडल
प्रो. सुनील के. चौधरी
प्रो. शीला राय
डॉ. चन्द्र पाल सिंह
डॉ. सीमा सिंह
डॉ. राजीव रंजन गिरी
श्री प्रदीप देसवाल
डॉ. प्रदीप कुमार
डॉ. चन्दन कुमार
डॉ. राहुल चिमूरकर
डॉ. महेश कौशिक

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष : 45, अंक : 1 जनवरी-मार्च 2024

विधायन विशेषांक

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
+91-9868550000
me.arvindsingh@manthandigital.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitscopy@gmail.com

मुद्रण
ओसियन ट्रेडिंग को.
132, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

मंथन सामाजिक एवं अकादमिक सक्रियता को समर्पित एक बहुअनुशासनिक, समकक्षी समीक्षित, शैक्षणिक एवं विषयवस्तु केंद्रित शोध पत्रिका है, जो त्रैमासिक आवृत्ति से वर्ष में चार बार प्रकाशित होती है। यह हर बार किसी एक विशिष्ट विषयवस्तु पर केंद्रित होती है। यह मानविकी के विभिन्न अनुशासनों में शोधरत लेखकों के मौलिक शोधलेखों का स्वागत करती है।

सर्वाधिकार © एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान। सर्वाधिकार सुरक्षित।

अस्वीकरण: एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान प्रतिष्ठान अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त सूचनाओं एवं तथ्यों की परिशुद्धता एवं सटीकता सुनिश्चित करने के लिए सभी संभव प्रयास करता है। फिर भी अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त विषयवस्तु की परिशुद्धता, पूर्णता एवं उपयुक्तता के संबंध में कोई वचन नहीं देता और न ही इस संबंध में कोई अभिवेदन देता है। इन प्रकाशनों में अभिव्यक्त विचार एवं दृष्टि लेखकों की है; आवश्यक नहीं है कि एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान इनसे सहमत हो।

प्रकाशक

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002

दूरभाष : 011–23210074; ईमेलः info@manthandigital.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		04
3.	अतिथि संपादक की कलम से		07
4.	स्वराज, स्वराज्य और सुराज	राम बहादुर राय	11
5.	ग्रासरूट गवर्नेंस एवं विधायन	प्रो. सुनील के. चौधरी	17
6.	संसद की विधायी क्षमता: मापदंड और विसंगतियाँ	डॉ. डी.डी. पटनायक	22
7.	भारत में व्यापार संघ, भाषाई क्षेत्र और संघवाद	प्रो. हिमांशु रॉय	31
8.	विधायन ने भारत में ब्रिटिश शासन को मजबूत किया	डॉ. चंद्रपाल सिंह	35
9.	आध्यात्मिकता: विधि का आधार	डॉ. सीमा सिंह	41
10.	विधायन का पारंपरिक स्वरूप: लोकतांत्रिकता और समाज धर्म	प्रो. संजीव कुमार शर्मा	46
11.	संस्कृति, संविधान और सेक्यूलरिज्म	प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा	51
12.	स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों के माध्यम से विधायन	डॉ. चंचल	55
13.	भारत पर मध्यकालीन आक्रमणों का परिणाम: शरीअत और विधि	प्रो. मजहर आसिफ	60
14.	73वाँ संविधान संशोधन: एक अधूरा विधायी प्रयास	डॉ. चंद्रशेखर प्राण	65
15.	राष्ट्र राज्य एवं विधायन: पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दर्शन	डॉ. महेश कौशिक	72

लेखकों का परिचय

रामबहादुर राय पद्मश्री से सम्मानित। हिंदुस्तान समाचार के समूह संपादक और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के अध्यक्ष। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। संपर्क : rbrai118@gmail.com

प्रो. सुनील के. चौधरी राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर व दिल्ली विश्वविद्यालय के वैश्विक अध्ययन केंद्र (सीजीएस) के निदेशक हैं। उनके पास उत्कृष्ट शैक्षणिक रिकॉर्ड, शोध प्रकाशन तथा दिल्ली विश्वविद्यालय में लगभग तीन दशक का शिक्षण अनुभव है। वह तेल अवीव विश्वविद्यालय, इजराइल से पोस्ट-डॉक्टरल फेलो हैं व ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, यूके में कॉमनवेल्थ फेलो हैं, उन्होंने समसामयिक विषयों पर विस्तार से लिखा है, जिनका उल्लेख विभिन्न राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में किया गया है। वह प्रतिष्ठित ग्लोबल साउथ अवार्ड, 2014 के साथ-साथ, विभिन्न राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों के प्राप्तकर्ता भी हैं।

डॉ. डी.डी. पटनायक (पीएचडी, डी. लिट), इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च, नई दिल्ली के पूर्व सदस्य हैं। हिंदू नेशनलिज्म इन इंडिया (चार खंडों में), इंडियन पोलिटिकल ट्रडिशन, पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ सुभाष चंद्र बोस, कल्चरल नेशनलिज्म इन इंडियन पर्सपेक्टिव, टुवर्डस पोलिटिकल थियरी ऑफ इंडियन नेशन, इंडियन फ्रीडम स्ट्रगल : अ नेशनलिस्ट वर्ल्ड व्यू, ग्लॉसरी (इंटीग्रल ह्यूमनिज्म) आदि प्रमुख कृतियों के अलावा एक दर्जन से अधिक कृतियों में सह-लेखक के रूप में शामिल। प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में 200 से अधिक लेख प्रकाशित। साहित्य-संस्कृति से जुड़े कई संगठनों द्वारा सम्मानित।

प्रो. हिमांशु राय दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर हैं। वे अटल बिहारी वाजपेयी सीनियर फेलो, नेहरू म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी (एनएमएमएल), तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली, एनएमएमएल के फेलो रहे हैं। उनकी प्रकाशित कृतियों में पटेल: पोलिटिकल आइडियाज ऐंड पॉलिसीज, सेज (2018), स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया (2017), इंडियन पोलिटिकल थॉट (2017) इंडियन पोलिटिकल सिस्टम (2017) एवं सलवा जुडूम (2014) शामिल हैं। उनकी आगामी कृति है सोशल थॉट इन इंडिक सिविलाइजेशन, सेज, 2022।

डॉ. चंद्रपाल सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के पीजीडीएवी कॉलेज में इतिहास के शिक्षक। 'भगत सिंह रीविजिटेड: हिस्ट्रियोग्राफी, बायोग्राफी ऐंड आइडियोलॉजी ऑफ द ग्रेट मार्टायर' (2011) तथा 'नेशनल एजुकेशन मूवमेंट: अ सागा फॉर क्वेस्ट फॉर आल्टरनेटिव्ज टु कोलोनियल एजुकेशन' (2012) प्रकाशित। आपकी शोधरुचियों में क्रांतिकारी आंदोलन और शिक्षा के इतिहास के अलावा भारतीय संविधान का उद्गम एवं निर्माण तथा जनगणना अध्ययन भी समाविष्ट हैं।

डॉ. सीमा सिंह लखनऊ विश्वविद्यालय से एलएलएम तथा दिल्ली स्थित जामिया मिल्लिया इस्लामिया से पीएचडी हैं। संवैधानिक विधि, तुलनात्मक संवैधानिक विधि, अंतरराष्टीय आर्थिक विधि, प्रशासनिक विधि, आपराधिक विधि तथा न्याय दर्शन उनकी रुचि के क्षेत्र हैं। वे राष्टीय एवं अंतरराष्टीय स्तर पर प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में इन विषयों पर निरंतर लिखती रही हैं। संप्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के कैंपस लॉ सेंटर में प्रोफेसर हैं।

प्रो. संजीव कुमार शर्मा भारतीय राजनीति विज्ञान परिषद के दशकाधिक अवधि राष्ट्रीय महासचिव एवं कोषाध्यक्ष, दि इंडियन जर्नल आफ पोलिटिकल साइन्स तथा भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका के पूर्व संपादक तथा राजनीति विज्ञान विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के सम्प्रति आचार्य व अध्यक्ष हैं। वह महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी के कुलपति रह चुके हैं। वे प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य और राजनीतिक चिन्तन की भारतीय दृष्टि के अध्येता हैं। वे विगत 38 वर्षों से शिक्षण, अनुसंधान, व प्रशासन में संलग्न हैं।

प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा अर्थविद होने के साथ ही प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के विशेषज्ञ भी हैं। वे गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश के कुलपति हैं। वे भारत सोलर पॉवर डेवलपमेंट फोरम के संयोजक और स्वदेशी जागरण मंच के सहसंयोजक हैं।
संपर्क: bpsharma131@yahoo.co.in, Mob: 9829243459

डॉ. चंचल प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की गम्भीर अध्येता हैं। चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ (उत्तर प्रदेश) से राजनीति विज्ञान में परास्नातक, विद्या निष्णात तथा विद्या वाचस्पति तथा विधिस्नातक की उपाधि प्राप्त डॉ० चंचल ने भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली की पोस्ट डॉक्टोरल फैलोशिप प्राचीन भारत में लोक कल्याण विषय पर पूर्ण की है। सम्प्रति वे स्वतन्त्र अनुसन्धानकर्ती हैं।

प्रो. मजहर आसिफ सूफी साहित्य और मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ, नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में आचार्य।
संपर्क : mazharassam@gmail.com

डॉ. चंद्रशेखर प्राण पंचायती राज व्यवस्था पर अठारह शोधपरक पुस्तकों के रचनाकार डॉ. चंद्रशेखर प्राण कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रहते हुए भी निरंतर ग्राम्य जीवन और उसकी व्यवस्था से जुड़े रहे हैं। आरंभिक दौर से ही सामाजिक कार्यों से लगाव। नेहरू युवा केंद्र में क्षेत्रीय समन्वयक से लेकर राष्ट्रीय निदेशक तक के रूप में 25 वर्षों तक विभिन्न पदों पर कार्य। नए पंचायती राज की वस्तुस्थिति के अध्ययन और आकलन के लिए 1999 के अंत में लगातार 72 दिनों तक साइकिल से पाँच राज्यों - उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान,हरियाणा तथा पंजाब - की पंचपरमेश्वर यात्रा का नेतृत्व। 2002 में सरकारी सेवा से अध्ययन अवकाश लेकर 'विकास में ग्राम पंचायतों की भूमिका तथा युवाओं का दृष्टिकोण एवं व्यवहार परिवर्तन' विषय पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पाँच राज्यों - उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, कर्नाटक एवं पश्चिम बंगाल - का तुलनात्मक शोधकार्य। वर्ष 2013 में स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर पुन: सामाजिक कार्यों के प्रति समर्पित।
संपर्क: cspran854@gmail.com

डॉ. महेश कौशिक श्री अरविंद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग में सहायक आचार्य व दिल्ली विश्वविद्यालय के वैश्विक अध्ययन केंद्र में अध्येता के पद पर कार्यरत है। वह विभिन्न शोध-पत्रिकाओं व समाचार-पत्रों में नियमित लेखक हैं। पिछले 15 वर्षों से एस सी आर टी, नेहरू युवा केंद्र में अतिथि वक्ता के रूप में अपनी सेवाएं देते रहे हैं । वह दिल्ली विश्वविद्यालय के वैश्विक अध्ययन केंद्र में चुनाव-सर्वेक्षण में मुख्य संयोजक के रूप में विभिन्न चुनावी अध्ययन परियोजनाओं में कार्य करते हुए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर चुनाव संबंधित विषयों पर नियमित रूप से विचार रखते रहे हैं।

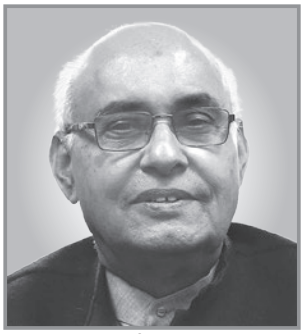

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

संपादकीय

कौन बनाता है कानून, कौन है विधि निर्माता? इस कौन का उत्तर आसान नहीं है। क्योंकि किसी व्यक्तिविशेष को इस संदर्भ में इंगित नहीं किया जा सकता। क्या समूह विशेष को इंगित किया जा सकता है? समूह विशेष को भी इंगित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः इसका उत्तर एक प्रक्रिया विशेष में है। उस प्रक्रिया को जानना चाहिए।

भारत एक प्राचीन सुसंस्कृत एवं सुसभ्य देश है, लेकिन आज उसकी विधायी प्रक्रिया, साम्राज्यवादी अंग्रेजों द्वारा प्रस्तुत 1935 के अधिनियम से ग्रहण की गई है। हमारा संविधान जो 26 नवंबर 1949 (तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तनमी, संवत् 2006 विक्रमी) को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया गया। उसके अध्याय दो में विधानपालिका (संसद) के गठन की प्रक्रिया एवं अनुच्छेद 107 से 117 तक विधायन की प्रक्रिया का वर्णन है। उसे पढ़कर उसकी वैधानिकता को जाना जा सकता है। क्या यह वैधानिक प्रक्रिया विधि-निर्माण में जन सहभागिता को सुनिश्चित करती है? क्या संसदीय प्रक्रियाओं से हुआ विधि-निर्माण जनता की जानकारी की व्यवस्था करता है? क्या कोई जन-संवाद होता है?

वैधानिक रूप से किसी नागरिक को यह कहने का अधिकार नहीं होता कि मैं इस कानून को नहीं जानता था, इसलिए मुझसे कानून का उल्लंघन हुआ। विधि यह मानकर चलती है कि हर नागरिक कानून का जानकार है। वैसे भी संसदीय लोकतंत्र की यह प्रस्थापना है कि जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से स्वयं कानून बनाती है। जो स्वयं कानून बनाने वाला है, वह कानून का गैर जानकार कैसे हो सकता है? इन प्रस्थापनाओं को आज हम यदि अपने व्यावहारिक सत्य के निकष पर कसें, तो हमें जो स्थिति ध्यान में आएगी, वह इन प्रस्थापनाओं के विरुद्ध होगी। आम नागरिक की बात छोडिए, बहुपठित लोग भी बिना वकील की सहायता के स्वयं संदर्भित कानून नहीं जान सकते। कोई कृत्य कानून के अनुसार है या कानून के विरुद्ध, यह तय करने में स्वयं न्यायालयों को, विद्वान वकीलों के सहयोग के बावजूद, वर्षों का समय लग जाता है।

लोकतंत्र को विधि का शासन या कानून का राज्य माना जाता है। संसद या विधान मंडलों के सदस्यों को विधि-निर्माता माना जाता है। क्या हमारे सांसद व विधायक विधि-निर्माता हैं? क्या निर्वाचन के समय कोई विधायक या संसद प्रत्यानशी 'विधि-निर्माण' के लिए वोट माँगता है? क्या कोई मतदाता विधि-निर्माण के लिए वोट देता है? क्या किसी निर्वाचन-क्षेत्र के लोग सांसद या विधायक से उनके द्वारा बनाई गई विधि की जानकारी लेते हैं या ये विधायकवृंद किसी को इस संदर्भ में कोई जानकारी देते हैं? सभी सांसद व विधायक अपने निर्वाचन क्षेत्र में अपनी प्रगति रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं। उनमें सामान्यतः विकास कार्यों (कार्यपालिकीय) का वर्णन होता है, विधायी कार्यों का नहीं। हमारे सांसदों या विधायकों की सामाजिक छवि विधि-निर्माता की नहीं है और इस नकारात्मक छवि से किसी को शिकायत भी नहीं है। लोकतांत्रिक दृष्टि से इस स्थिति को क्या कहा जाए? भगवान जानें।

विधायी कार्यों में विधायकों की क्या भूमिका होती है? क्या विधायक स्वयं विधेयक प्रस्तुत करते हैं? सामान्यतः विधायक स्वयं विधेयक प्रस्तुत नहीं करते, यदि कभी करते हैं तो वे निजी विधेयक कहलाते हैं, जो सामान्यतः पारित नहीं होते। जो विधेयक पारित होते हैं वे कैबिनेट यानी मंत्रिमंडल

के माध्यम से आते हैं। उन विधेयकों पर अपनी राय रखने के लिए विधायक या सांसद स्वतंत्र नहीं होते। उन्हें पार्टी का व्हिप स्वीकार करना पड़ता है। यदि सांसद या विधायक सत्ता पक्ष का है तो उसे सरकार द्वारा प्रस्तुत विधेयक का समर्थन करना ही होगा। यदि विपक्ष में है तो सामान्यत: वह विरोध करेगा। विधायक या सांसद की अपनी कोई स्वतंत्रता नहीं है, वह पार्टियों के सचेतन (व्हिप) से बँधा हुआ है। इसीलिए सामान्यत: विधेयकों पर होने वाली बहस में किसी की रुचि नहीं होती। बहुत ही महत्त्वपूर्ण विधेयक यहाँ तक कि बजट भी कभी-कभी बिना बहस के पारित हो जाते हैं।

तो क्या राजनैतिक पार्टियाँ विधि-निर्माता हैं? पार्टियाँ भी विधि-निर्माता नहीं हैं, पार्टियों का संचालन उनकी कार्यकारिणियाँ करती हैं। वहाँ भी कभी विधायी चर्चा नहीं होती। कुछ लोकप्रिय कानूनों की चर्चा सत्तारूढ़ पार्टियाँ अपनी आम सभाओं में करती हैं तथा कुछ अलोकप्रिय कानूनों की चर्चा विरोधी पार्टियाँ अपनी आमसभाओं में करती हैं। रोजमर्रा का विधायन इन सबके लिए अविषय होता है।

सत्तारूढ़ दल के सचेतन के माध्यम से सरकार द्वारा प्रस्तुत विधेयक ही अंतत: पारित होते हैं। अत: हम मान लें कि सरकार ही विधि निर्माता है। सरकार चलाना या शासन करना संविधानत: कार्यपालिका का काम है। क्या संसदीय प्रणाली में विधानपालिका के काम भी कार्यपालिका ही करती है? तो क्या विधानपालिका कार्यपालिका के नियंत्रण में है, उसका अपना कोई स्वतंत्र या स्वयंभू कार्य नहीं है?

हमारे कानूनों की भाषा को देखें तो जनप्रतिनिधि कार्यपालकों (मंत्रियों) की तो वह भाषा नहीं है। लंबे-लंबे वाक्यों की जटिल बनावटवाले हमारे कानून चाहे मंत्री हों या विधायक, उनके बनाए हुए नहीं हो सकते। तो क्या विधि विशेषज्ञ वनौकरशाह हमारे विधि निर्माता हैं? विधि-निर्माण की प्रक्रिया की हिस्सा हमारी न्यायपालिका भी है, उसका तो प्रत्येक निर्णय ही कानून बन जाता है। कानून की व्याख्या में न्यायपालिकीय निर्णय, निर्णायक होते हैं। इन सब तथ्यों का आकलन करके भी हम अपने विधि-निर्माता का साक्षात्कार नहीं कर पाते।

संसदीय लोकतंत्र में सरकारें स्वयं के संचालन के लिए कानून बनाती हैं, ये कानून पुलिस एवं नौकरशाहों के औजार होते हैं। अराजकता के नियंत्रण के लिए निश्चय ही ये आवश्यक है, लेकिन ये नागरिक उत्पीड़न एवं आर्थिक कदाचार को भी बढ़ावा देते हैं। इन नियमों और उपनियमों आदि पर किसी का नियंत्रण नहीं होता। स्वयं-शासित समाज की परिकल्पना के विपरीत है यह व्यवस्था। इसमें विधि का शासन प्रकारांतर से पुलिस व नौकरशाही का शासन बन जाता है। कदाचार, भ्रष्टाचार, पक्षपात एवं भेदभाव की जननी है यह शासन। सामान्यत: विधि-निर्माता माने जाने वाले सांसद व विधायक भी इसके सामने अपने आपको लाचार महसूस करते हैं।

ये विधि-निर्माण क्षेत्र के प्रत्यक्ष कारकों की चर्चा हमने की है। कुछ कारक हैं जो नेपथ्य में रहते हैं। जिनको राजनीति की भाषा में 'दबाव समूह' कहा जाता है। पहला 'दबाव समूह' है निहित स्वार्थ। उद्योगपतियों (पूँजीपतियों) के निहित स्वार्थ के अनुकूल विधियों के नियमन एवं संशोधन होते रहते हैं। लोकतंत्र में निर्वाचन प्रक्रिया निर्णायक होती है और वह महँगी होती चली जा रही है। राजनैतिक दलों के लिए केंद्रीकृत उद्योगों से बड़ी राशि प्राप्त करना आसान होता है। आम

नागरिक के छोटे-मोटे चंदों से अब चुनाव नहीं लड़े जाते। कानून के माध्यम से राजनैतिक दल इनकी सहायता करते हैं, अत: लोकरंजन के स्थान पर धनरंजन के अनुकूल विधायन होता है।

दूसरा बड़ा दबाव समूह है 'सस्ती लोकप्रियता' (Populism) है। भारत की निर्वाचन प्रक्रिया में 'वोट बैंक' की बड़ी अहमियत है। भारत में सबसे बड़ा वोट बैंक गरीब लोग हैं। लोकलुभावनी योजनाएँ इन्हीं के लिए बनती हैं। इसी प्रकार 'जाति' बड़ा दबाव समूह है, जाति आधारित विधायन इसका परिणाम है। ये दबाव समूह हमारे विधायन के नेपथ्य स्थित कारक हैं।

विधायन का यक्षप्रश्न हमारे समक्ष मुँह बाए खड़ा है। हम कोई अराजकताग्रस्त समाज नहीं हैं। वर्तमान संविधान के पूर्व भी सदियों से हम मर्यादित समाज रहे हैं। आज भी हमारा ग्रामीण समाज कानूनी प्रावधानों नहीं वरन् लोकपरंपराओं से अनुशासित है। भारत की गृहस्थ संस्थान, विवाह संस्था एवं जाति संस्था कानून से नहीं संस्कारों से सुपोषित है। कानून की महत्ता को भी इस संदर्भ में कम आँकने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है समाज व संस्कारों से संगत विधायन का मार्ग खोजने की।

मंथन के इस अंक ने कुछ पड़तालें की हैं, जो हमें प्राचीन भारत के विधायन, मध्यकालीन व आधुनिक विधायन की स्थितियों से परिचित करवाती है। महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि 'विधायन' हमारे सार्वजनिक विमर्श का आधार बनना चाहिए। पं. दीनदयाल उपाध्याय इस संदर्भ में 'लोकमत परिष्कार' की बात करते हैं। उनकी प्रसिद्ध आलेख शृंखला है 'आपका मत' (दीनदयाल संपूर्ण वाङ्मय, खंड दस, नौ आलेख) वह हमें पढ़नी चाहिए।

भारत की संवैधानिक यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है 73वाँ संशोधन। यह संशोधन 'ग्रामसभा' की परिकल्पकना करता है। जिसमें प्रत्येक मतदाता विधायक है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का यह शुभ संकल्प है, लेकिन यह अभी तक व्यवहार की धरती पर नहीं उतर सका है। आम नागरिक इसके बारे में कुछ जानते नहीं। सभी राजनैतिक दल इस संदर्भ में चुप हैं। शायद केंद्रीकृत राजसत्ता में सभी का निहित स्वार्थ है, वे सत्ता का विकेंद्रीकरण नहीं चाहते हैं। *मंथन* के इस अंक में डॉ. चंद्रशेखर 'प्राण' का आलेख विशेष रूप से पठनीय है।

विधायन की संप्रभुता जिस समाज में होती है वह स्पष्ट परिकल्पनाओं का धारक होता है। श्री रामबहादुर राय का आलेख इस संदर्भ में एक मील का पत्थर है, उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ना चाहिए। भारतीयतापरक आलेखों की एक पूरी शृंखला विद्यमान है। आज के विधायन पर विद्वानों की लेखनी चली है। इस अंक के अतिथि संपादक के रूप में हमें प्रो. सुनील चौधरी प्राप्त हुए। उनका मार्गदर्शन इस अंक को समृद्ध करने का कारक बना। कृतज्ञता एवं आभारपूर्वक मैं उनका अभिवादन करता हूँ।

हमें अगले अंक की प्रतीक्षा होगी। अगला अंक (अप्रैल-जून 2024) कार्यान्वयन विशेषांक होगा। विधानपालिका के समान ही *मंथन* कार्यपालिका की भी समुचित पड़ताल करेगा। आप भी सहभागी हों।

शुभम्

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

प्रो. सुनील के. चौधरी

अतिथि संपादक की कलम से

विचारों की सुलझी हुई अभिव्यक्ति, समालोचनाओं की व्याख्या तथा समाचारों को एक नए अकादमिक विमर्श का रूप देना ही *मंथन* की पहचान है। इसके विषय वस्तु पर निर्णय, शोधलेखों के लिए विशेषज्ञ लेखकों से संपर्क, अंक को निष्ठापूर्वक संपादित कर उसे अंतिम रूप देना... छह महीने की यह कठिन यात्रा और इसमें नियमितता एवं निरंतरता संपादक मंडल का मुख्य आधार रहा है। *मंथन* के लिए नववर्ष 2024 का आरंभ विधायन से हो रहा है। यह शासकीय त्रयी के रूप में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के आगे आने वाले अंकों के लिए भी मार्ग प्रशस्त करेगा।

एक अतिथि संपादक के रूप में *मंथन* से जुड़ने का सम्मान किसी भी युवा शोधार्थी का अभिलषित स्वप्न हो सकता है, जिसे वरिष्ठ एवं श्रेष्ठ शोधार्थियों के अनुभवी व असाधारण विद्वता के सानिध्य में कार्य करते हुए शोध की नव वीथियों में प्रवेश का अवसर मिलता है। *मंथन* के लिए विषय वस्तु की संकल्पना से लेकर अभिव्यक्ति की परिणति और प्रख्यात लेखकों द्वारा लेखों के निष्पादन तक गहरे संवाद और जुड़ाव का व्यापक मंच सामने आया। लेखकों के विचारों और एक लेख के रूप में उनके सृजन पर गहन चिंतन के साथ एक वैचारिक विषय वस्तु की मुख्यधारा के अनुरूप ढालना कम कठिन काम नहीं था, खासकर सुझाव देने या प्रेक्षण के मामले में।

विधान पर केंद्रित *मंथन* के वर्तमान अंक को संसदीय लोकतंत्र की त्रिस्तरीय प्रणाली की आधारशिला के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें एक ओर तो विधि निर्माण, विधि के क्रियान्वयन और विधि पर निर्णय देने तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय, राज्य और स्थानीय संस्थागत ढाँचे पर काम करना शामिल है। प्राचीन से लेकर मध्यकालीन और आधुनिक भारत तक तीन अलग-अलग चरणों को समेटते हुए, वर्तमान विषय पर प्रकाशन के लिए चुने गए बारह लेख प्रमुख प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। ये सभी लेख *स्मृतियों, संहिताओं और धर्मशास्त्रों* के आधार पर बनाई गई विधियों की प्राचीन विरासत और प्रशासनिक आक्रमण की मध्ययुगीन और आधुनिक प्रणाली के बीच एक संबंध प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं, जिससे स्वतंत्रता के बाद के भारत में विधि की समकालीन अवधारणा सामने आई और 21वीं शताब्दी के नए भारत में इसकी परिणति हुई।

स्वराज, स्वराज्य और *सुराज* जैसे संकल्पनात्मक शब्दों के साथ-साथ राष्ट्र-राज्य के बीच के अंतर को सुस्पष्ट करता, यह अंक विधायी प्रक्रियाओं के बदलते आख्यानों और धर्म के सिद्धांत एवं आध्यात्मिकता के लोकाचार पर आधारित प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है। भारत और विधायन पर विमर्श को *भारतीय विधि और विधान* के रूप में द्विआधारिता को चित्रित करने वाली प्राचीन जड़ों तक ले जाया जाता है, जिसका अध्ययन लोकतंत्रीकरण और कल्याणवाद के जुड़वां लेंस से किया जाता है। लेखकों द्वारा पाश्चात्य और प्राच्यवाद को स्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुए इनके बीच के भेद को भी स्पष्ट किया गया है, एक ओर तो विधायन को पौर्वात्य प्रतिमानों और दूसरी ओर आध्यात्मिक ढाँचे में मूलबद्ध करने की आवश्यकता को समझते हुए। इस्लामी आक्रमण ने न केवल *सनातन बनाम शरिया* द्वंद्व को जन्म दिया, बल्कि हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच संघर्ष भी पैदा किया, जिस कारण पूरे मध्य युग में विधायन की प्रकृति को परिभाषित करने की आवश्यकता है।

आधुनिक युग की शुरुआत औपनिवेशिक काल के तहत कानून के औपचारिकीकरण से होती है। विधान परिषद अधिनियमों और भारत सरकार अधिनियमों ने भारतीयों के एक उभरते वर्ग को विधायकों के रूप में नया प्रशिक्षण और पक्ष प्रदान किया। वेद, उपनिषद, अर्थशास्त्र, जातक और विभिन्न प्राचीन ग्रंथ संसदीय लोकतंत्र की प्रणाली के हिस्से के रूप में विधायन की प्रकृति को रूपाकार देने और परिभाषित करने में संस्थापकों के लिए आधार बने। भारतीय संघ और विधायन की प्रक्रिया की उभरती अवधारणाओं पर क्षेत्रीय व्यापार मंडलों की भूमिका का भी असर पड़ा। ब्रिटिश वेस्टमिंस्टर सिस्टम के आधार पर निर्मित तथा मजबूत होती न्यायिक समीक्षा की शक्तियों का प्रयोग करने वाली एक स्वतंत्र न्यायपालिका के साथ विधायिका एवं कार्यपालिका के बीच शक्तियों के संलयन पर आधारित भारतीय संसद की विधायी क्षमता के विधायन की प्रक्रिया 1950 से ही कमजोर होती गई है, जैसा कि एक लेखक ने कहा है।

लेखकों का मानना है कि 1990 के दशक के दौरान संविधान में 73वें और 74वें संशोधनों के माध्यम से ग्रासरूट गवर्नेंस की एक नई विधायी शुरुआत की गई, लेकिन उन्होंने नए भारत में नई तकनीकों और प्रौद्योगिकी के साथ आए बदलावों और चुनौतियों को भी उजागर किया है, जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

मंथन के वर्तमान अंक में प्रख्यात विद्वानों द्वारा नए दृष्टिकोण और प्रतिमान के साथ लिखे गए बारह महत्त्वपूर्ण शोधलेख विधायन और शासन के क्षेत्र में नवाचार और अनुसंधान के नए क्षितिज को उजागर करते हैं।

प्रो. सुनील के. चौधरी

डेस्टिनेशन उत्तराखण्ड

राज्य में निवेशकों के लिए बेहतर आयाम तैयार कर रही प्रदेश सरकार

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

पहाड़ी इलाकों में निजी औद्योगिक क्षेत्रों की स्थापना को बढ़ावा देने के लिए विशेष एकीकृत औद्योगिक प्रोत्साहन नीति की घोषणा की गई। यह नीति औद्योगिक क्षेत्र की निजी भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए प्रस्तावित की गई थी

औद्योगिक क्षेत्रों की स्थापना पर है धामी सरकार का जोर

विशेष एकीकृत औद्योगिक प्रोत्साहन नीति राज्य में औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने से जुड़ी एक प्रमुख पहल है। इसके माध्यम से रोजगार के अवसर सृजित हुए हैं। राज्य के दूरस्थ इलाकों में औद्योगिक विकास के साथ-साथ सुविधाओं को विस्तार मिल सका है। यहां की सड़कों, नालियों, प्रकाश की व्यवस्था जैसी मूलभूत सुविधाओं के व्यय पर 50प्रतिशत की सब्सिडी अधिकतम 50 लाख रूपये का प्रावधान किया गया। केंन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित विशेष औद्योगिक पैकेज के समाप्त होने और सिडकुल की ओर से विकसित एकीकृत उद्योगों के लिए भूमि की सीमित उपलब्धता को देखते हुए निजी भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए इस नीति को लागू किया गया। इसके प्रमुख बिंदु ये हैं:

- निजी औद्योगिक एस्टेट की स्थापना के लिए मैदानी भाग में कम से कम 30 एकड़ की जमीन और पहाड़ी इलाकों में कम से कम 02 एकड या इससे अधिक की भूमि का होना जरूरी है। यह भी कहा गया है कि एमएमएमई इकाइयों की स्थापना के लिए जमीन देना जरूरी होगा। बड़े औद्योगिक स्थानों के लिए न्यूनतम 10 स्वतंत्र एमएमएमई इकाइयां और पहाड़ी क्षेत्रों के न्यूनतम 05 स्वतंत्र एमएमएमई इकाइयां निर्धारित की गई हैं।
- निजी क्षेत्र में आईटी पार्क/ बायो टैक्नोलाजी पार्क के विकास के लिए सीडा के प्रचलित भवन उपनियमों के अनुसार न्यूनतम 18000 वर्गमीटर निर्मित क्षेत्रफल होना जरूरी है।
- निजी औद्योगिक एस्टेट या क्षेत्र के लिए निवेशक या प्रमोटर अपने संसाधनों से भूमि की व्यवस्था करेंगे।
- औद्योगिक संपदाओं या इन क्षेत्रों के विकास के लिए सीडा/यूनीफाइड बिल्डिंग बॉय लॉज का पालन करना होगा और सीडा नियामक प्राधिकरण के रूप में कार्य करेगा।
- ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों में बुनियादी सुविधाओं के रूप में आन्तरिक सड़कों, नालियों, प्रकाश व्यवस्था व अन्य सामान्य सुविधा प्रदान करने की जिम्मेदारी आस्थान के प्रवर्तक की होगी।
- निजी औद्योगिक एस्टेट या क्षेत्रों की स्थापना के लिए सैद्धान्तिक अनुमोदन/ विनियमन की प्रक्रिया दो चरणों की होगी। पहले चरण में औद्योगिक क्षेत्रों की स्थापना के लिए सैद्धान्तिक स्वीकृति दी जायेगी। जबकि दूसरे चरण में भूमि पर सीडा लेआउट पर अनुमोदन और प्रमाण पत्र दिखाने के बाद औपचारिक अधिसूचना जारी की जाएगी।
- बुनियादी ढांचे के विकास के लिए निजी औद्योगिक क्षेत्रों या इसके बाहर के क्षेत्रों के लिए 100 करोड़ रूपये की राशि का कोश बनाया जाएगा। सिडकुल इस फंड को संचालित करेगा। इस निधि से औद्योगिक क्षेत्र में किए गए कुल पूंजी निवेश की तुलना में 2 प्रतिशत की धनराशि खर्च की जाएगी।
- इस नीति के तहत क्षेत्र के भीतर बुनियादी सुविधाओं पर किए गए पूंजी निवेश के सापेक्ष चार चरणों में 10 लाख रूपये प्रति एकड़ की दर से पूंजीगत निवेश किया जाएगा। निजी औद्योगिक प्रतिष्ठानों में सीईटीपी की स्थापना के लिए अचल पूंजी निवेश का 40 प्रतिशत, अधिकतम 01 करोड़ रूपये तक अनुदान दिया जायेगा।
- यह नीति अधिसूचना जारी होने की तिथि से लागू होगी और आगामी 05 वर्ष तक प्रभावी रहेगी।

उत्तराखण्ड की लॉजिस्टिक नीति-2023 के प्रमुख बिन्दु

पात्र गतिविधियां

- लॉजिस्टिक पार्क, इनलैंड कन्टेनर डिपो, वेयरहाउस, ट्रक टर्मिनल, लॉजिस्टिक वाहन, कोल्ड स्टोरेज आदि।
- ईको लॉजिस्टिक या ग्रीन लॉजिस्टिक/ टेक्नोलॉजी लॉजिस्टिक सुविधाओं का विकास।

वित्तीय प्रोत्साहन

- परियोजना लागत पर 10 से 25 प्रतिशत तक वित्तीय प्रोत्साहन।
- 50 करोड़ रूपये तक की परियोजना लागत पर अधिकतम 08 करोड़ रूपये, 50 करोड़ रूपये से 150 करोड़ रूपये तक के परियोजना लागत पर अधिकतम 24 करोड़ रूपये व 150 करोड़ रूपये से अधिक परियोजना लागत पर अधिकतम 32 करोड़ रूपये तक का अनुदान।
- वेयरहाउसिंग सुविधा के लिए पर्वतीय क्षेत्र में न्यूनतम 2.50 करोड़ रूपये निवेश के साथ 5000 वर्गफुट क्षेत्रफल और मैदानी क्षेत्र में न्यूनतम 05 करोड़ रूपये के निवेश के साथ 10000 वर्गफुट क्षेत्रफल की आवश्यकता।
- ट्रक टर्मिनल के लिए न्यूनतम 5 करोड़ रूपये निवेश के साथ 45,000 वर्गफुट भूमि की आवश्यकता।
- कोल्ड स्टोरेज के लिए न्यूनतम क्षेत्रफल 5000 वर्गफुट।

यही समय है, सही समय है,

उत्तराखण्ड में निवेश का

DESTINATION UTTARAKHAND
GLOBAL INVESTORS SUMMIT 2023
Peace To Prosperity

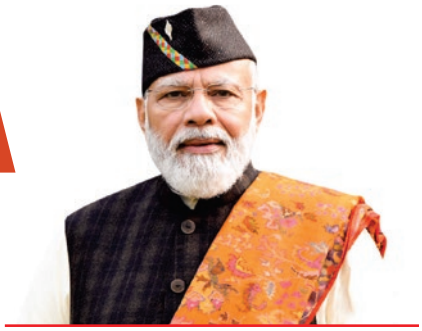

"माननीय प्रधानमंत्री जी के मार्गदर्शन में उत्तराखण्ड की आर्थिकी और पर्यटन विकास में वृद्धि हुई है। हमारा राज्य व्यापार के लिए सदैव खुला है, जो निवेशकों को व्यापक अवसर प्रदान करता है । सुव्यवस्थित उद्योग की मंजूरी से लेकर निवेशकों को प्रोत्साहित करने तक हम सदैव प्रतिबद्ध हैं। अपने उद्यमों के लिए एक सम्पन्न पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण हमारी प्राथमिकता है। आइये मिलकर उत्तराखण्ड के भविष्य को नया आकार प्रदान करें!

पुष्कर सिंह धामी, मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

"21वीं शताब्दी का ये तीसरा दशक, उत्तराखण्ड का दशक है। उत्तराखण्ड एक ऐसा राज्य है, जहां दिव्यता और विकास एक साथ महसूस होता है। वह दिन दूर नहीं, जब दिल्ली-देहरादून के बीच की दूरी ढाई घंटे की रह जाएगी। देहरादून और पंतनगर हवाई अड्डे के विस्तार से हवाई कनेक्टिविटी मजबूत होगी। प्रदेश में हेली-टैक्सी सेवाओं का विस्तार किया जा रहा है तथा रेल कनेक्टिविटी को सुदृढ़ किया जा रहा है। यह सब कृषि, उद्योग, लॉजिस्टिक्स, भंडारण, पर्यटन और आतिथ्य के लिए नए अवसर पैदा कर रहा है। वहीं, हाउस ऑफ हिमालयाज वोकल फॉर लोकल और लोकल फॉर ग्लोबल की हमारी अवधारणा को और मजबूत करता है।"

नरेन्द्र मोदी, प्रधानमंत्री

- उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 सफलतापूर्वक संपन्न
- निवेश के लिए 3.5 लाख करोड़ रुपए से अधिक के एमओयू पर हस्ताक्षर
- 44 हजार करोड़ रुपए के निवेश प्रस्तावों को धरातल पर उतारने का कार्य प्रारंभ
- सफल आयोजन के लिए मुख्यमंत्री धामी और राज्य प्रशासन को मिली बधाई
- 'मेक इन इंडिया' की तर्ज पर 'वेड इन इंडिया' आंदोलन शुरू करने का प्रस्ताव
- ब्रांड हाउस ऑफ हिमालयाज लॉंच
- 30 से अधिक नीतियां लागू करके नीति-संचालित राज्य का सम्मान
- उत्तराखण्ड में भव्य कन्वेंशन सेंटर के निर्माण की योजना

दुनियाभर के निवेशकों की पहली पसंद बनता उत्तराखण्ड आज निवेश की नई ऊंचाइयां छू रहा है। प्रदेश में निवेश की रफ्तार बढ़ाने के उद्देश्य से 8-9 दिसंबर को 'उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023' का सफलतापूर्वक आयोजन किया गया। यह राज्य को नए निवेश गंतव्य के रूप में स्थापित करने की दिशा में कारगर कदम साबित हुआ। इस सम्मेलन में दुनियाभर के हजारों निवेशकों और प्रतिनिधियों ने बड़े उत्साह के साथ प्रतिभाग किया।

इस दो दिवसीय कार्यक्रम में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी, केंद्रीय गृह एवं सहकारिता मंत्री अमित शाह, मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी, कई अन्य केंद्रीय एवं राज्य मंत्री, दुनियाभर के बड़े-बड़े उद्योगपति, व्यवसाय जगत से जुड़ी सुप्रसिद्ध हस्तियां, विभिन्न देशों के नेता, 15 देशों के राजदूत और 5 हजार से अधिक प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। 'पीस टू प्रोस्पेरिटी (शांति से समृद्धि)' थीम पर आधारित इस समिट का मुख्य उद्देश्य उत्तराखण्ड को निवेश का गंतव्य प्रदेश बनाना है।

'उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023' की ऐतिहासिक सफलता प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के दूरगामी

विजन और मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के अथक परिश्रम का परिणाम है। प्रधानमंत्री जब गुजरात के मुख्यमंत्री थे, तब उन्होंने 'वाइब्रेंट गुजरात' नाम से इन्वेस्टर्स समिट का आयोजन शुरू किया था। उसी से प्रेरित होकर राज्य सरकार द्वारा 'डेस्टिनेशन उत्तराखण्ड' की थीम पर इन्वेस्टर्स समिट का आयोजन किया गया।

उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 का दो दिवसीय शिखर सम्मेलन राज्य को नए निवेश गंतव्य के रूप में स्थापित करने की दिशा में कारगर कदम साबित हुआ है। मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के अथक प्रयासों की बदौलत इस कार्यक्रम को उम्मीद से परे सफल बनाया गया है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने उत्तराखण्ड की अप्रयुक्त क्षमता पर प्रकाश डालते हुए निवेशकों से इसका अधिकतम लाभ उठाने का आग्रह किया है। राज्य सरकार जहां स्थानीय वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए काम कर रही है, वहीं भारत सरकार उत्तराखण्ड में अभूतपूर्व निवेश कर रही है।

8 -9 दिसंबर को देहरादून के वन अनुसंधान संस्थान में आयोजित उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 का उद्घाटन प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा किया गया। समिट के उद्घाटन के साथ-साथ उन्होंने 'सशक्त उत्तराखण्ड' पुस्तक और 'ब्रांड-हाउस ऑफ हिमालयाज' को भी लॉन्च किया। वहीं, 9 दिसंबर को उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 के समापन समारोह में केंद्रीय गृह एवं सहकारिता मंत्री अमित शाह की गरिमामयी उपस्थिति ने दुनियाभर के निवेशकों का हौसला बढ़ाया। समिट के उद्घाटन सत्र में कई विशिष्ट अतिथि उपस्थित हुए। इसमें भारत सरकार के तीन केंद्रीय मंत्रियों के साथ ही उत्तराखण्ड सरकार के 7 कैबिनेट मंत्री, सभी पूर्व मुख्यमंत्री, सांसद, विधायक आदि उपस्थित रहें। उद्घाटन सत्र में 8 प्रमुख वक्ता के रूप में देश के प्रमुख उद्योगपति शामिल रहें। 15 राजदूत, हेड ऑफ मिशन-स्पेन, स्लोवेनिया, नेपाल, क्यूबा, ग्रीस, ऑस्ट्रिया, जापान, सऊदी अरब आदि शामिल रहें। वहीं, 9 दिसंबर को केंद्रीय गृह एवं सहकारिता मंत्री अमित शाह ने उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 के समापन सत्र में प्रतिभाग किया।

'डेस्टिनेशन उत्तराखण्ड' का मुख्य उद्देश्य ग्रीन इकोनॉमी और रोजगार के साथ इकोलॉजी एवं इकोनॉमी के समन्वय द्वारा राज्य का समग्र विकास करना है। इस ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट में ढाई लाख करोड़ रुपए के निवेश प्रस्तावों को प्राप्त करने का लक्ष्य था। जिसके सापेक्ष निवेश के लिए 3.5 लाख करोड़ रुपए के एमओयू पर हस्ताक्षर किए गए। अभी तक निर्धारित लक्ष्य से अधिक के निवेश प्रस्तावों पर समझौते हो चुके हैं। इनमें से अब तक 44 हजार करोड़ रुपए के निवेश प्रस्तावों को धरातल पर उतारने का कार्य प्रारंभ हो चुका है। इससे प्रदेश में स्थानीय लोगों के लिए रोजगार के अवसर तेजी से बढ़ने की संभावना जताई जा रही है। उद्योग समूहों के साथ एमओयू साइन किए जाने का कार्य गतिमान है। सरकार निवेश के जरिए राज्य में रोजगार सृजन एवं स्थानीय उत्पादों को बढ़ावा देने के लिए निरंतर कार्य कर रही है। उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 के तहत अभी तक तीन लाख करोड़ रुपए के निवेश प्रस्ताव आ चुके हैं। देवभूमि उत्तराखण्ड में निवेशकों द्वारा जो रुचि दिखाई गई है, इससे राज्य की प्रगति में नई ऊर्जा का संचार हो रहा है। प्रदेश में हेल्थ, वेलनेस, शिक्षा, चिकित्सा, पर्यटन, फार्मा और ऑटोमोबाइल के क्षेत्र में बहुत संभावनाएं हैं। इसलिए, इन क्षेत्रों में विशेष फोकस किया जा रहा है। राज्य में निवेश बढ़ाने के लिए नीतियों को सरल बनाया गया है। निवेशकों के सुझावों के आधार पर 27 नई नीतियां तैयार की गई हैं।

समिट में निवेश बढ़ाने और रोजगार के अवसर पैदा करने सहित कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा एवं बातचीत हुई। उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट में राज्य सरकार ने जिन निवेशकों से निवेश के लिए एमओयू साइन किए हैं, उनमें प्रमुखतः टूरिज्म हॉस्पिटैलिटी, आयुष वेलनेस, मैन्युफैक्चरिंग, फार्मा, फूड प्रोसेसिंग, रियल एस्टेट-इंफ्रा, पंप स्टोरेज, ग्रीन एंड रिन्यूएबल एनर्जी एवं ऑटोमोबाइल सेक्टर शामिल हैं। उत्तराखण्ड में निहित शिक्षा सामर्थ्य को संवारने के लिए इन्वेस्टर्स समिट के तहत विद्यालयी, तकनीकी और उच्च शिक्षा का द्वितीय सत्र निवेशकों के साथ आयोजित हुआ। मुख्यमंत्री शोध प्रोत्साहन योजना के जरिए राज्य के उच्च शिक्षण संस्थाओं में शोध गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए शिक्षकों और शोधार्थियों को 18 लाख रुपए तक का शोध अनुदान दिया जा रहा है।

'मेक इन इंडिया' की तर्ज पर शुरू करें 'वेड इन इंडिया': पीएम मोदी

धार्मिक, आध्यात्मिक, हसीन वादियों, हरे-भरे और बर्फीले पर्वतों का गढ़ है देवभूमि उत्तराखण्ड। जो बेहतर कनेक्टिविटी, शानदार इन्फ्रास्ट्रक्चर और सभी आवश्यक सुविधाओं से सुसज्जित है। धामी सरकार राज्य में तीर्थटिन और पर्यटन के साथ-साथ डेस्टिनेशन वेडिंग की परंपरा को बढ़ावा देने पर विशेष जोर दे रही है और इससे संबंधित सुविधाएं लगातार विकसित की जा रही हैं। लोग उत्तराखण्ड के पवित्र धार्मिक, आध्यात्मिक और प्राकृतिक स्थलों पर डेस्टिनेशन वेडिंग आयोजित करने में दिलचस्पी ले रहे हैं। पर, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की अपील के बाद, यह उम्मीद जताई जा रही है कि आने वाले समय में उत्तराखण्ड 'डेस्टिनेशन वेडिंग' के गंतव्य के रूप में अपनी जगह बना सकता है।

देवभूमि उत्तराखण्ड वह पवित्र स्थल है, जो अपने विवाह समारोह के लिए प्रसिद्ध है। उत्तराखण्ड के रुद्रप्रयाग जिले के त्रियुगीनारायण गांव में स्थित श्री त्रियुगीनारायण मंदिर उनमें से एक है। ऐसी मान्यता है कि यही वह स्थान है, जहां भगवान शिव ने माता पार्वती के साथ सात फेरे लिए थे। यही कारण है कि यहां प्रत्येक वर्ष बड़ी संख्या में जोड़ियां शादी के पवित्र बंधन में बंधते हैं। यह स्थान डेस्टिनेशन वेडिंग के रूप में नई पहचान बना रहा है।

इसी प्रकार, धर्मनगरी हरिद्वार के शांतिकुंज में हर साल बड़ी संख्या में जोड़े विधि-विधान के साथ जन्म-जन्मांतर की डोर में बंधते हैं। तीर्थनगरी ऋषिकेश की बात की जाए तो मौजूदा समय में यह स्थल देश-विदेश के युवाओं के लिए प्रमुख वेडिंग डेस्टिनेशन के रूप में उभर रहा है। मसूरी, नैनीताल और रामनगर सभी आलीशान सुख-सुविधाओं से संपन्न स्थलों में एक हैं, जिसके वेडिंग डेस्टिनेशन का चलन देश-विदेश तक बढ़ रहा है। प्रकृति की गोद में विवाह करने के लिए उत्तराखण्ड में औली जैसे हिल स्टेशन यानी 'मिनी स्विट्जरलैंड' भी हैं।

उत्तराखण्ड में पर्यटन और तीर्थटिन की विकसित सुविधाओं की वजह से यहां वेडिंग डेस्टिनेशन के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। प्रधानमंत्री के 'वेड इन इंडिया' के नारे के बाद अब यह उम्मीद जताई जा रही है कि धामी सरकार इस मुहिम की दिशा में तेज गति से काम करेगी। 'वेड इन इंडिया' आंदोलन आने वाले समय में उत्तराखण्ड को वेडिंग के लिए सबसे पदफेक्टर डेस्टिनेशन के रूप में पहचान दिलाएगा। इससे स्थानीय कारोबार में वृद्धि के साथ आजीविका के नए अवसर सृजित होंगे।

उत्तराखण्ड सरकार की प्रमुख नीतियां

प्रमुख नीतियाँ

- सेवा क्षेत्र नीति 2023
- सौर ऊर्जा नीति 2023
- एमएसएमई नीति 2023
- स्टार्ट-अप नीति 2023
- कस्टमाइज्ड पैकेज
- लॉजिस्टिक्स पॉलिसी 2023
- फिल्म नीति 2015 (2019 में संशोधित)
- निजी औद्योगिक पार्क नीति 2023
- वृहद् औद्योगिक नीति 2015
- निर्यात नीति 2021
- पर्यटन नीति 2023-30
- ड्रोन नीति 2023
- सूचना प्रौद्योगिकी नीति 2019
- आयुष एवं वेलनेस नीति
- जैव प्रौद्योगिकी नीति 2018-23
- खाद्य प्रसंस्करण नीति
- पंप भंडारण परियोजना नीति 2023

रोड शो के जरिए उम्मीद से परे निवेश

'उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023' की अभूतपूर्व सफलता की वजह से आज उत्तराखण्ड दुनियाभर के निवेशकों के बीच चर्चा का विषय बना हुआ है। इस विश्वस्तरीय निवेश शिखर सम्मेलन को सफल बनाने के लिए उत्तराखण्ड सरकार द्वारा महीनों बड़ी जोरशोर से तैयारियां की गई थीं। इसके प्रचार-प्रसार के लिए देश-विदेश में कई रोड शो किए गए थे, जिनमें 3 अंतरराष्ट्रीय और 7 घरेलू रोड शो शामिल हैं।

3 अंतरराष्ट्रीय रोड शो जहां लंदन, बर्मिंघम और दुबई में आयोजित किए गए, वहीं 7 घरेलू रोड शो दिल्ली, चेन्नई, बेंगलुरु, अहमदाबाद और मुंबई में आयोजित हुए। दरअसल, ऐतिहासिक उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 के भव्य आयोजन से पहले मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के नेतृत्व में राज्य सरकार द्वारा निरंतर कड़े प्रयास किए गए।

यह उसी कठिन परिश्रम का परिणाम था कि समिट के आयोजन से पहले ही 14 सितंबर-4 अक्टूबर, 2023 को धामी सरकार द्वारा दिल्ली में 26,575 करोड़ रुपए, 26-28 सितंबर को लंदन में 12,500 करोड़ रुपए, 17-18 अक्टूबर को दुबई में 15,475 करोड़ रुपए के निवेश का करार हुआ। वहीं, रोड शो के दौरान 26 अक्टूबर को चेन्नई में 10,150 करोड़ रुपए, 28 अक्टूबर को बेंगलुरु में 4,600 करोड़ रुपए, 1 नवंबर को अहमदाबाद में 24,000 करोड़ रुपए और 6 नवंबर को मुंबई में 30,200 करोड़ रुपए के एमओयू हस्ताक्षरित हुए।

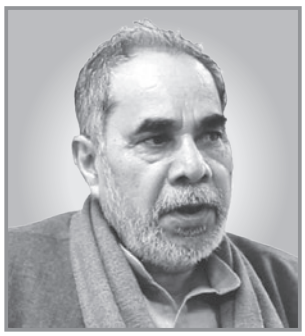

रामबहादुर राय

स्वराज, स्वराज्य और सुराज

स्वतंत्रता संग्राम के दौर में उभरे तीन महत्त्वपूर्ण शब्द हैं - स्वराज, स्वराज्य और सुराज। अभिप्राय के साथ-साथ इनकी भूमिका का एक तात्त्विक विवेचन

आज हम राजनीति में स्वराज या आत्मनिर्णय की चर्चा करेंगे। मनुष्य के ऊपर मनुष्य का प्रभुत्व सर्वाधिक स्पष्टता से राजनीतिक दायरे में ही महसूस किया जाता है, जबकि विचारों के दायरे में एक संस्कृति के ऊपर दूसरी संस्कृति अपना प्रभुत्व परोक्ष रूप से स्थापित करती है। साधारणत: महसूस न होने के कारण इस तरह के प्रभुत्व का नतीजा ज्यादा गंभीर होता है।[1] भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य ने एक दिन अपने छात्रों से इस तरह बातचीत शुरू की। यह 1928 की बात है। उसमें 'विचारों का स्वराज' वर्णित है। इस विषय पर विचार की प्रेरणा क्या उन्हें स्वराज पार्टी के उदय से मिली? इसका कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन यह कहा जा सकता है कि 'स्वराज' पर उस समय गहन चिंतन-मनन राजनैतिक समूहों के अलावा बौद्धिक जगत में भी चल रहा था। इसका तात्कालिक कारण यह भी रहा होगा कि 1922 में मोती लाल नेहरू और चितरंजन दास ने स्वराज पार्टी बनाई थी। वह राजनैतिक मंच था।

प्रसिद्ध दार्शनिक कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य ने राजनैतिक अर्थ में स्वराज को आत्मनिर्णय का पर्याय बताया है। लेकिन जब वे विचारों के स्वराज की बात करते हैं, तब स्वराज को वे सांस्कृतिक संदर्भ में व्याख्यायित करते हैं। 'विचारों का स्वराज' का एक उल्लेखनीय इतिहास है। सबसे पहले प्रो. कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य ने अपने छात्रों से बात की। उसकी थोड़ी चर्चा हुई। तीन साल बाद सर आशुतोष मुखर्जी ने स्मारक व्याख्यान दिया। उसे उनके छात्रों ने आलेख बनाया। जो पहली बार 1954 में 'विश्व भारती' पत्रिका में छपा। स्वराज की अवधारणा के हर प्रसंग पर 'विचारों का स्वराज' एक आधारभूत आलेख बन गया है। इसे विभिन्न भाषाओं में छापा गया है। प्रो. कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य का निष्कर्ष है, "हमें वास्तविक भारतीय जन के सांस्कृतिक स्तर की ओर लौटना होगा और उनके साथ मिल कर एक ऐसी संस्कृति विकसित करनी होगी जो हमारे समय तथा देशज प्रतिभा के अनुरूप हो। यही विचारों में स्वराज प्राप्त करना होगा।"[2] यह अंश आज भी प्रासंगिक है। समय की सीमा इसे नहीं बाँध पाती। यह समयातीत है। इसमें स्वराज के विचार का एक दार्शनिक ढाँचा है। इसलिए स्वराज एक प्रकाश दीप है।

यह सही है कि आज स्वराज का संदर्भ वह नहीं रहा जो बीसवीं सदी के पहले दशक में था। दूसरे शब्दों में स्वराज के आशय का क्रमिक विकास हुआ है। इसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की पहल से हम समझ सकते हैं। उन्होंने भारत को स्वराज का मार्ग दिखाया। इसके लिए 'गीता रहस्य' लिखा। अपनी सूक्ष्म बुद्धि से देश की कर्मधारा को जगाया। कांग्रेस को प्रतिरोध की राह पर चलने के लिए तैयार किया। लाला लाजपत राय और विपिन चंद्र पाल को अपनी टीम में शामिल कर 'लाल-बाल-पाल' का तिकोना बनाया। वह ऐसा तीर था जो अंग्रेजों को सीधे वेधता था। जिसके गंभीर घाव उन्हें कष्ट देने के अलावा चेतावनी स्वरूप थे। उसी तरह भारतवासियों को उस समय के 'महाभारत' में जीतने का भरोसा देता था। वह समय था, बंग-भंग से उत्पन्न राष्ट्रीय प्रतिरोध का। उसी समय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने स्वराज, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और विदेशी बहिष्कार का चार सूत्रीय संदेश गुँजाया। यहाँ यह भी याद रखना जरूरी है कि तिलक ने 1907 में ही स्पष्ट कर दिया था कि स्वराज्य से उनका तात्पर्य स्वशासन से है। वे दादाभाई नौरोजी के इस तर्क से असहमत थे कि स्वराज्य

की माँग को सुराज्य के नाम पर छोड़ा जा सकता है। सुराज्य तो होना ही चाहिए लेकिन वे ब्रिटिश शासन में सु-राज्य से पूरी तरह असहमत थे। उनका कहना था कि अपना राज्य ही स्वराज्य है। इसीलिए 'स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार' उन्होंने घोषित किया। यह अमर वाक्य आज भी प्रेरणा देता है। वे निर्वाचित और उत्तरदायी सरकार की अवधारणा के जनक हैं। उन्होंने ब्रिटिश दावे को भी चुनौती दी कि भारतीय स्व-शासन के काबिल नहीं है। उनका कहना था कि भारतीय अपना राज-काज बहुत अच्छे से चलाने में समर्थ हैं। स्पष्ट है कि बीसवीं सदी के पहले दशक में स्वराज को आत्मनिर्णय के अभिप्राय से सर्वसाधारण व्यक्ति नहीं बल्कि अग्रणी लोग ग्रहण किया करते थे। इसका एक कारण मनोवैज्ञानिक भी था। उस समय बड़े-बड़े लोगों के दिल और दिमाग में यह बात पैठ गई थी कि ब्रिटिश राज अत्यंत शक्तिशाली है। इसलिए उससे लड़ा नहीं जा सकता, उससे विनत होकर ही कुछ हासिल किया जा सकता है। ऐसा विचार निजी हित में नहीं, देश के हित में माना जाता था। इसलिए आत्मनिर्णय की आवाज को ही उस समय सबसे बड़ा राजनैतिक साहस समझा गया। आत्मनिर्णय का ही क्रमिक विकास स्वराज्य में हुआ। इसकी कहानी अलग है और यहाँ वह अप्रासंगिक है।

प्रश्न स्वराज और स्वराज्य का है। इस समय अनेक विद्वान समझते हैं कि स्वराज और स्वराज्य समानार्थी शब्द हैं। क्या ऐसा ही है? कठिनाई तब उत्पन्न होती है, जब 'हिंद स्वराज' और 'ग्राम स्वराज्य' संज्ञा में भेद अपने आप प्रकट होने लगता है। ये दोनों पुस्तकें[3] महात्मा गांधी की हैं। उन्होंने पहले 'हिंद स्वराज' लिखा। इसमें वे अपने समय के सत्य को प्रकट करने के लिए प्रश्नोपनिषद की शैली अपनाते है। यह प्रश्न और उत्तर का तरीका है। उन्होंने इस छोटी सी किताब में एक अध्याय स्वराज्य पर लिखा है। उसका शीर्षक है, 'स्वराज्य क्या है?'[4] इसमें पाठक पूछता है कि 'स्वराज्य के बारे में आपका क्या ख्याल है?' संपादक का उत्तर है, 'स्वराज्य के लिए आप-हम सब अधीर बन रहे हैं, लेकिन वह क्या है इस बारे में हम ठीक राय पर नहीं पहुँचे हैं।'[5] संपादक स्वयं महात्मा गांधी हैं। इसी किताब में वे एक जगह लिखते हैं, 'यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं है।'[6] पाठक के एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उनका यह कथन है। फिर वे इसका थोड़ा विस्तार करते हैं और लिखते हैं, 'स्वराज्य को समझना आपको जितना आसान लगता है उतना ही मुझे मुश्किल लगता है। इसलिए फिलहाल मैं आपको इतना ही समझाने की कोशिश करूंगा कि जिसे आप स्वराज्य कहते हैं वह सचमुच स्वराज्य नहीं है।'[7] इस कथन में यह छिपा है कि आत्मनिर्णय स्वराज्य नहीं है। स्वराज्य की पहली शर्त स्वतंत्रता है लेकिन इस संवाद से जिज्ञासु की उत्कंठा बढ़ती है। दुविधा में जो होगा उसकी उलझन अधिक हो सकती है। जो सीधे सपाट उत्तर चाहते हैं, वे प्रतीक्षा करेंगे कि वह जब प्रकट हो तो उसका वे प्रसाद ग्रहण करें। लेकिन गांधी जी के ही कथन में स्वराज और स्वराज्य का भेद स्पष्ट दिखता है। जब वे कहते हैं, 'स्वराज्य तो सबको अपने लिए पाना चाहिए-और सबको उसे अपना बनाना चाहिए। दूसरे लोग जो स्वराज्य दिला दें वह स्वराज्य नहीं है, बल्कि परराज्य है।'[8] यहाँ वे स्वराज के पथ-प्रदर्शक हैं। हिंद-स्वराज का पाठक-संपादक संवाद 1909 में जहाज पर हुआ, लेकिन वह मनोगत नहीं रह सका। ऐसा प्रश्न उठाया जो हर समय विवेचन की माँग करता है।

महात्मा गांधी स्वतंत्रता संग्राम के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ थे। उसी संग्राम में तीन शब्द चलन में आए। ये शब्द हैं, स्वराज, स्वराज्य और सुराज। अनेक विद्वान इन्हें स्वतंत्रता की सहायक धाराएँ मानते हैं। तीन दिशाओं से निकली ये धाराएँ जहाँ मिलती हैं, क्या वह स्वराज है, स्वराज्य है या स्वतंत्रता है? इन शब्दों में स्वतंत्रता की अवधारणाएँ छिपी हुई हैं। इनमें शिखर भी है और गहरी खंदक भी है। इतिहास का यह तथ्य है कि बंग-भंग से जो राष्ट्रीय जागरण हुआ, वह स्वराज की पूर्णांग चेतना थी। महात्मा गांधी ने उसे एक नया अर्थ दिया। स्वराज्य शब्द में वे जो अर्थ समझते थे, उसे उन्होंने इस प्रकार लिखा, 'स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है लोक-सम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन। लोक-सम्मति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी से बड़ी तादाद के मत के द्वारा हो, फिर वे चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, इसी देश के हों या इस देश में आकर बस गए हों। ये लोग ऐसे हों जिन्होंने अपने शारीरिक श्रम के द्वारा राज्य की कुछ सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम लिखवा लिया हो।...सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर अधिकार करने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है।'[9] यह वे 1925 में लिख रहे हैं। इसका संबंध उस समय के राजनैतिक विचार-विमर्श से है। वह स्वराज पार्टी की कांग्रेसी राजनीति के द्वंद से भी जुड़ा हुआ था।

स्वराज्य की अवधारणा पर बार-बार महात्मा गांधी को अपना मंतव्य प्रकट करने की आवश्यकता अनुभव होती थी। इसलिए

महात्मा गांधी स्वतंत्रता संग्राम के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ थे। उसी संग्राम में तीन शब्द चलन में आए। ये शब्द हैं, स्वराज, स्वराज्य और सुराज। अनेक विद्वान इन्हें स्वतंत्रता की सहायक धाराएँ मानते हैं। तीन दिशाओं से निकली ये धाराएँ जहाँ मिलती हैं, क्या वह स्वराज है, स्वराज्य है या स्वतंत्रता है? इन शब्दों में स्वतंत्रता की अवधारणाएँ छिपी हुई हैं। इनमें शिखर भी है और गहरी खंदक भी है। इतिहास का यह तथ्य है कि बंग-भंग से जो राष्ट्रीय जागरण हुआ, वह स्वराज की पूर्णांग चेतना थी। महात्मा गांधी ने उसे एक नया अर्थ दिया। स्वराज्य शब्द में वे जो अर्थ समझते थे, उसे उन्होंने इस प्रकार लिखा, 'स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है लोक-सम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन

पुनः उन्होंने लिखा, 'स्वराज्य एक पवित्र शब्द है; वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्मशासन और आत्मसंयम है। अंग्रेजी शब्द 'इंडिपेंडेंस' अकसर सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी का या स्वच्छंदता का अर्थ देता है; वह अर्थ स्वराज्य शब्द में नहीं है।'[10] इसे वे लोकमान्य तिलक के स्वर में परंतु अपनी भाषा का कलेवर देते हुए स्पष्ट करते हैं, "जिस प्रकार हर देश खाने-पीने और साँस लेने के लायक है, उसी प्रकार हर राष्ट्र को अपना कारबार चलाने का पूरा अधिकार है, फिर वह कितनी ही बुरी तरह क्यों न चलावे।'[11]

अंग्रेजी के लिबर्टी शब्द का अर्थ है, स्वाधीनता। एक विश्वकोश[12] में लिबर्टी के बारे में इस तरह से लिखा गया है, "स्वतंत्रता के लिए भारतीय परंपरा के पास अगर कोई निकटतम शब्द है तो वह है मुक्ति। लेकिन इस मुक्ति का तात्पर्य मोक्ष से है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से पारलौकिक धरातल पर मिलने वाला छुटकारा।'[13] इसी क्रम में यह उल्लेख भी है, 'लेकिन आधुनिक और लौकिक संदर्भों में यहाँ जिस मुक्ति की चर्चा की जा रही है उसका अर्थ है, सामाजिक-राजनैतिक बंधनों से छुटकारा। भारत में स्वतंत्रता का यह आधुनिक विचार मुख्यतः दो अर्थों में ग्रहण किया जाता है: राजनैतिक स्वतंत्रता और सामाजिक स्वाधीनता।'[14] 'स्वाधीनता के इन दोनों रूपों की चेतना का स्पर्श साथ-साथ मिलने के बावजूद भारत ज्यादा से ज्यादा यह कह सकता है कि उसे राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त हो चुकी है, और सामाजिक स्वतंत्रता के रास्ते पर कई सकारात्मक कदम बढ़ा चुका हैं पर इस सिलसिले में मंजिल तक पहुँचने की जद्दोजहद अभी जारी है।'[15] 'स्वतंत्रता के विचार का भारत में आगमन तीन विभिन्न रास्तों से हुआ। पहला, औपनिवेशिक शासन व्यवस्था द्वारा किए गए कानूनी विन्यास में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं की प्रच्छन्न समझ निहित होना। दूसरा, पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था का संस्थागत प्रसार। तीसरा, पश्चिमी सामाजिक चिंतन का प्रभाव।'[16]

विधायन की अनंतता में स्वराज, स्वराज्य और सुराज एक जैसे ही माने जाते हैं। मानो इनमें अर्थ भेद जरा भी नहीं है, सिर्फ शब्द और उसके उच्चारण का भेद है। यह समय सतही है। वास्तव में जो विधायन करते हैं, वे अवश्य इन शब्दों को एक जैसा मानते हैं। क्या ऐसा ही है? ये लगते एक जैसे हैं, लेकिन ये एक कदापि नहीं हैं। विधायन कर्मियों की बंद खिड़कियाँ और बंद दरवाजे में स्वराज की चेतना अब तक तो नहीं पहुँची है। उसे पहुँचाने की इच्छा और कोशिश राजनैतिक नेतृत्व में हमेशा रही है, लेकिन ऐसा लगता है कि सफलता तो बहुत दूर खड़ी है। विधायन कर्मियों की दुनिया अलग है और समाज की अपेक्षाएँ अलग है। वे कहीं मिलती है तो कहीं बिछुड़ती हैं। दुनिया अलग है इसलिए इनकी विश्व दृष्टि भी भिन्न है। जीवन दृष्टि के सूत्र भी भिन्न हैं।

मेरी समझ है, स्वराज का क्षितिज सांस्कृतिक है। वह चरित्र में सांस्कृतिक है। जिसमें पूरा जीवन समाया हुआ है। राज्य व्यवस्था उसका एक अंग मात्र है। लेकिन स्वराज्य में राजनैतिक अर्थ छिपा है। जिसका निहितार्थ सुराज में है। ब्रिटिश शासन से भारत की स्वतंत्रता का एक बड़ा प्रयोजन स्वराज था। वह एक सपना था। जो दुःस्वप्न बन गया। क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण की राजनैतिक परिस्थितियों ने निर्णायक हस्तक्षेप कर दिया। इस कारण भारत को राजनैतिक स्वतंत्रता ही मिल सकी। वह स्वराज्य है। ब्रिटिश शासन ने अपनी विरासत में औपनिवेशिक ताना-बाना छोड़ा। उसे स्वराज के उपकरण में रूपांतरित किए बिना स्वराज का सपना पूरा नहीं हो सकता। स्वराज औपनिवेशिकता के विध्वंस से उत्पन्न खंडहर पर अपनी भव्य इमारत बना सकेगा। विडंबना यह है कि स्वतंत्र भारत ने स्वयं औपनिवेशिक बंधन को अपने गले का हार समझा। कुछ लोग इसे परिस्थितिजन्य विवशता भी कहते पाए जाते हैं। यह मात्र एक स्पष्टीकरण है। उससे ज्यादा कुछ नहीं है। स्वतंत्रता में ऐसा अगर बंधन है, तो वह मानसिक अनुगमन का परिचायक है। उसे अगर दासता न भी कहें, तो अपनी बेड़ी को घुँघरू मानने का भ्रम इसे नहीं कहेंगे, तो क्या कहेंगे! मीरा ने भी घुँघरू बाँधी थी। लेकिन उससे भक्तिमयी मीरा ने मुक्ति का अमर स्वर पैदा किया।

स्वराज की कार्ययोजना में सबसे बड़ी बाधा विचार के स्तर पर आधुनिकता, औपनिवेशिकता, सामाजिक लोकतंत्र का वैचारिक द्वंद है। इसमें भारतीय विचार के अनुरूप चिंतन और जरूरत पड़ने पर संश्लेषण के प्रयास होते रहे हैं। फिर भी यह मसला स्वतंत्रता से पहले जितना उलझा हुआ था, उतना ही आज भी है। सबसे बड़ी चुनौती इन शब्दों की परिभाषा है। बौद्धिक विमर्श और संवाद से इनका समय के साथ कदम ताल बनाने में हर पग पर कठिनाइयाँ हैं। इतिहासकार धर्मपाल उन सुधी जनों में हैं, जिन्होंने पुनः एक बड़े समुदाय में यह चेतना जगाई कि "इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है जब विश्व की अनेक अन्य सभ्यताओं को लगने लगा कि भारत के पास उनकी समस्याओं के समाधान का कोई महती संदेश है। अपने ही समय में, अभी पचास-साठ वर्ष पहले जब महात्मा गांधी इस देश को अपनी ही एक दिशा में ले चले थे, तब विश्व के बहुतरे लोगों को लगने लगा था कि भारत पूरी मानवता को एक नया मार्ग दिखा देगा। वह स्थिति फिर आ सकती है। और उस सिथति में, जब विश्व को भारतीयता में महत्व का कुछ दिखाई देने लगेगा, तब विश्व के साथ समानता के स्थाई स्वस्थ संबंध बनाने का उपाय भी निकल आएगा। उस स्थिति में पहुँचने के लिए जो बौद्धिक, मानसिक व भौतिक प्रयास करने आवश्यक हैं, उन्हें कर लेने का समय तो अब आ ही गया है।"[17] यह बात उन्होंने 1991 में कही थी। क्या उस दिशा में कोई प्रगति हुई है? इसका उत्तर खोजा जाना है।

इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं। क्या-क्या उत्तर हो सकते हैं? इस अनुमान में न जाएँ और यह देखने की कोशिश करें कि आज का यथार्थ क्या है? इसे समझने के लिए 1991 का प्रसंग हमें उसकी सम्रगता में याद करना चाहिए। वह समय वैसा ही था, जैसा 1905 से 1908 का था। राष्ट्रीयता की नई चेतना का एक तरफ उन्मेष हो रहा था, तो दूसरी तरफ भूमंडलीकरण की छाया में आर्थिक उदारीकरण की केंद्रीय अवधारणा स्थापित की जा रही थी। यह समझाया जा रहा था कि ये 21वीं सदी की ऐसी अवधारणा है जो भूमंडल का उत्तर हो या दक्षिण दोनों के लिए यह अनिवार्य है। स्वदेशी की भावना इसे चुनौती दे रही थी, लेकिन वह 'हल्दीघाटी' का 'महाराणा प्रताप' बनकर रह गई। आज का यथार्थ विश्व के स्तर पर

बदल गया है। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण अतीत की गर्त में जा रहे हैं। भारत 21वीं सदी के पांचवें हिस्से को पार कर चुका है। इसमें दस साल ऐसे हैं जिनको समझने के लिए दो शब्दों का मर्म जानना चाहिए। भारत का अमृतकाल और आत्मनिर्भर भारत। ये लक्ष्यभेदी शब्द हैं।

ऐसे समय में आधुनिकता और स्वराज का संबंध निर्धारण भी एक समस्या है। इसका समाधान होना है। एक समझ ऐसी है कि 'स्वतंत्रता की इन दोनों धाराओं (आधुनिकता और सामाजिक लोकतंत्र) को अगर किसी एक मुकाम पर एक साथ अभिव्यक्ति मिली तो वह था गांधी-विचार। गांधी ने स्वतंत्रता के लिए 'स्वराज' शब्द का इस्तेमाल किया जो 'स्व' और 'राज' से मिल कर बना था। इसे दो अर्थों में समझा जा सकता था। स्व या अपना शासन और स्व पर राज या अपने ऊपर शासन। इस तरह स्वराज का एक मतलब संवैधानिक और राजनैतिक स्वतत्रंता समझा गया और दूसरा मतलब सामाजिक और सामूहिक स्तर पर स्वतंत्रता के रूप में लिया गया। गांधी ने सामाजिक मुक्ति को एक नया आयाम भी दिया जिसका तात्पर्य न केवल परंपरा की जकड़ से मुक्ति था, बल्कि पश्चिम के सांस्कृतिक रुतबे से भी मुक्ति के रूप में था। अपनी विख्यात रचना 'हिंद स्वराज' में गांधी ने स्वराज की वह समझ पेश की जिसका मतलब था अमानवीकरण करने वाली संस्थाओं से मुक्ति के लिए आत्म-गौरव की उपलब्धि, अपने उत्तरदायित्व की समझ और आत्म-मुक्ति की क्षमता का विकास। इस स्वराज की प्राप्ति की लिए जरूरी था अपनी वास्तविक इयत्ता का साक्षात्कार करते हुए समुदाय व समाज से उसके संबंध की गहन अनुभूति। गांधी का लक्ष्य था कि स्वराज की इस समझ के मुताबिक ऐसी संस्थाओं, संरचनाओं और प्रक्रियाओं के विकास का सतत प्रयास किया जाए जो भारत की विविध संस्कृतियों और परपंराओं के मुताबिक होने के साथ-साथ प्राकृतिक जगत के उसूलों पर भी खरी उतरती हों। गांधी का विश्वास था कि इस प्रकार होने वाला विकास न केवल व्यक्ति को स्वाधीन करेगा, बल्कि उन सामूहिक क्षमताओं को भी उन्मुक्त करेगा जिनकी बुनियाद न्याय के उसूल पर रखी गई होगी।[18]

स्वराज की एक और सही मायने में कहें, तो सबसे बड़ी चुनौती औपनिवेशिकता है। अंबिकादत्त शर्मा का कथन है- "औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया और उत्तर- औपनिवेशिक प्रभाव में भारत का कम-से-कम तीन बार आत्म-विभाजन हुआ है। ओरिएंटलिस्ट विद्वानों के द्वारा भारत के वर्तमान को उसके गौरवशाली अतीत से काट दिया जाना पहला आत्म-विभाजन था। इसका परिणाम यह हुआ कि हम अपनी ही संस्कृति और सभ्यता के प्रति हीन भावना से ग्रस्त हुए और इस तरह भारत के वर्तमान को आधुनिक यूरोप से प्रतिकृत होने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से विवश कर दिया गया। दूसरा आत्म-विभाजन स्वातंत्र्योत्तर काल में राजनीति और संस्कृति के बीच उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पार्थक्य के कारण घटित हुआ है। इसके चलते वह भारत जो एकात्मक गुण-सूत्रों वाला सांस्कृतिक राष्ट्र था; औपनिवेशिक प्राधिकरण से मुक्त होकर भी संस्कृतिविहीन एक राजनैतिक राष्ट्र-राज्य में रूपांतरित होकर रह गया। भारत का तीसरा आत्म-विभाजन भाषाई आधार पर हुआ है। इस देश में अंग्रेजी ने राष्ट्रीयता (नेशनिज्म) की भाषा की पदवी को अख्तियार कर लिया और भारतीय भाषाएँ बहुविध उप-राष्ट्रीयता की भाषाएँ बन कर रह गईं। इस तरह राष्ट्रीयता और उप-राष्ट्रीयताओं में विभाजित भारत से राष्ट्रीयता (नेशनलिटी) विलुप्त कर दी गई। इन सभी आत्म-विभाजनकारी दरारों के पीछे आधुनिकता के साभ्यतिक अभियान की भूमिका वैसी ही रही है जैसे कैकेयी लांछित हुई, राम को वनवास हुआ, राजा दशरथ की मृत्यु हुई और क्या-क्या नहीं हुआ; लेकिन मंथरा (आधुनिकता) यह सब कुछ करने में चुपके से सफल होती रही।[19] कौन ऐसा भारतीय होगा जो आत्म-विभाजन से निकलना नहीं चाहेगा! यह इच्छा होगी। वह संकल्प कैसे बने, यही यक्षप्रश्न है।

इसका संबंध संविधान, संस्कृति और तदनुरूप विधायन से है। इन्हें अगर कसौटी बनाएँ, तो प्रश्न होगा कि क्या इन विचारों को भारत के संविधान में स्थान मिला? दूसरा प्रश्न होगा कि क्या राज्य व्यवस्था की संरचना में इन मूल्यों और सिद्धांतों के आधार पर परिवर्तन किए गए? इन दोनों प्रश्नों पर अनेक मत हैं। लेकिन यह विचार धीरे-धीरे ही सही सर्वमान्य हो रहा है कि "सचमुच स्वातंत्र्योत्तर कालीन वैचारिक आत्मघात के लिए उत्तरदायी तो पूरे बुद्धिजीवी वर्ग को ठहराया जा सकता है लेकिन उनमें भी सर्वाधिक हैं पंडित जवाहरलाल नेहरू।"[20] यह कथन लंबे वर्णन का अंश है। लेकिन यह तथ्य भी नजरों से ओझल नहीं करना चाहिए कि संविधान में स्वतत्रंता के अधिकार और सिद्धांत की एक परिभाषा दी गई है। उसका एक स्तर नागरिक से संबंधित है, तो दूसरे का संबंध समाज से है। मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक तत्त्वों में इसे पाया जा सकता है।

जब एक ही शब्द का हर जगह प्रयोग होता हो तो कोई कठिनाई उसका अर्थ समझने में नहीं होती है। लेकिन स्वराज और स्वराज्य का घालमेल एक व्यक्ति के लिए कठिनाई पैदा करता है। मेरा विचार है कि स्वराज और स्वराज्य में अंतर है। गांधी जी ने एक ही शब्द का प्रयोग भिन्न संदर्भों में किया। सही संदर्भ से सही अर्थ निकाला जा सकता है। 'हिंद स्वराज' में सही संदर्भ है। महात्मा गांधी के लेखन में अनगिनत बार स्वराज्य शब्द आया है। क्या वे विभिन्न संदर्भों में स्वराज की पुनरुक्ति यूँ ही कर रहे हैं? ऐसा नहीं है। इसे वे ही अच्छी तरह समझ सकते हैं, जो महात्मा गांधी के लेखन में प्रयोजन को पहचानते हैं। यह सच है कि स्वराज्य का बार-बार उन्होंने प्रयोग किया है। लेकिन स्वराज्य का परम सच शब्द में नहीं है, शब्द के संदर्भ में है। उसी का संबंध प्रयोजन से है। मेरी समझ है कि स्वराज्य की चेतना का जैसे-जैसे उठान होता गया वैसे-वैसे महात्मा गांधी के लेखन में स्वराज्य शब्द का प्रयोजन बदलता गया। समाज और कांग्रेस के स्वराज्यवादियों की समझ बढ़े, इसके लिए वे स्वराज्य का उल्लेख विभिन्न अवसरों पर करते रहे। उसमें वे नए अर्थ डालते रहे। यह क्रम 1945 तक चलता रहा। उनका लक्ष्य तो स्वराज्य का स्वराज में पहले रूपांतरण था और फिर उसका अंतिम रूप सुराज होना था। जिसे उनके मशहूर ताबीज में पढ़ा जा सकता है।

सही संदर्भ के कई आयाम हैं। स्वराज के स्वरूप को समझने के लिए जरूरी है कि इस शब्द को आजकल के संदर्भ से थोड़ा अलग करके देखें। यह शब्द मात्र

ढाई अक्षरों से बना हुआ नहीं है, यह तो भाषा की अपनी सीमा है। इस शब्द में भारत की अनादि परंपरा समाहित है। लेकिन इस आलेख में स्वराज का संदर्भ आधुनिक भारत में उदित राष्ट्रीयता की चेतना से है। इसलिए यह गौण हो जाता है कि इसका कब और किसने सबसे पहले प्रयोग किया। यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इसका विचार किन-किन महापुरुषों ने अपनी शब्दावली में रखा। जिसका प्रभाव भारतीय समाज की चेतना के जागरण पर पड़ा। इसका विचार करते ही जो पहला नाम सामने आता है वह स्वामी विवेकानंद का है। उन्होंने राजनीति को अपने विचारों का वाहक नहीं बनाया। लेकिन उनके संदेश ने समाज पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। जो राजनेता और समाज सुधारक औपनिवेशिक बंधन की जकड़न को दूर करने में लगे थे, उन पर स्वामी विवेकानंद ने अपनी अमिट छाप छोड़ी। उन्होंने वेदांत को राष्ट्रीय जागरण का आधार बनाया। वे मानते थे कि वेदांत में सभी धर्म समाहित हैं। इस स्थापना में भारत का अध्यात्म है। अपने भीतर एक ऐसे तत्व की तलाश ही अध्यात्म है, जिसको बाँधा न जा सके, जो परतंत्र न किया जा सके, वह सदा स्वतंत्र है, यही आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। इसका थोड़ा विस्तार कर दें, तो कह सकते हैं कि आधुनिक भारत में स्वामी विवेकानंद स्वराज विचार के जनक हैं। वे नदी की तरह हैं। उन्हें सब स्वीकार करते हैं।

स्वामी विवेकानंद ने स्वदेशी स्वराज की अवधारणा दी। इसे नदी की उपमा से ही बहुत सटीक तरीके से समझना आसान है। मान लीजिए कि स्वराज है नदी। स्वराज का एक दर्शन है। उसमें जीवन जीने का एक आदर्श ढंग है। स्वराज्य है, घड़ा। शासनतंत्र है, वह माध्यम, जो अगर घड़े को भरना चाहता है, तो उसे नदी के जल से भरने के लिए घड़ा लेकर नदी के पास जाना पड़ेगा। प्यासे व्यक्ति, परिवार और समाज की प्यास तृप्त करने के लिए यह एक मात्र तरीका है। क्या नदी घड़े के पास जाएगी? ऐसा होता नहीं है। नदी के पास घड़े को जाना पड़ता है, थोड़ा झुकना पड़ता है, तब नदी का जल रूपी प्रसाद घड़े में भर पाता है। आज की भाषा में नल की टोटी से भी जल भरने की यही पद्धति होगी। समस्या स्वराज्य के तंत्र की है। उसमें औपनिवेशिक दिमाग के कारण अहंकार है। उससे बनी आदतें हैं। सुराज के लिए तो जरूरी है कि स्वराज्य जनता के पास पहुँचे। इसके लिए विनम्रता और ऐसे ही मानवीय गुण-धर्म चाहिए।

इसी तरह स्वराज में संस्कृति आधारित राजनीति समाहित है। इसे अमेरिकी लेखक डेनिस डाल्टन की नई किताब बहुत अच्छे से बताती है। किताब है, 'इंडियन आइडियाज ऑफ फ्रीडम'। इस किताब का यह दूसरा संस्करण है। इसके नाम में सिर्फ एक शब्द जुड़ा है। इसका पहला संस्करण 1982 में आया था। उसमें चार महापुरुषों के विचारों का अध्ययन था, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद, महात्मा गांधी और रवींद्र नाथ टैगोर। अब इसमें तीन नाम और जुड़ गए हैं, भीमराव आंबडेकर, एम.एन. राय और जयप्रकाश नारायण। इस समय यह किताब चर्चा में भी है। अपने काम की बात इसमें यह है कि डेनिस डाल्टन ने भी इसे माना है कि आधुनिक भारत में स्वतंत्रता की चेतना स्वामी विवेकानंद के वक्तव्यों से निकली। इस किताब की प्रस्तावना में इतिहासकार रामचंद्र गुहा ने लिखा है, "यह किताब इस बुनियादी विचार पर आधारित है कि स्वतंत्रता के भारतीय विचारों की जड़ें स्वदेशी परंपराओं खासकर धार्मिक विचारों में ढूँढी जा सकती हैं। डेनिस डाल्टन का तर्क है कि इन सभी विचारकों ने स्वतंत्रता की अपनी तलाश को व्यक्तिगत और राजनैतिक, दोनों रूपों में देखा। उनका मानना है कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता की गहरी व्यक्तिगत चाह अनिवार्य रूप से पूरे समाज में होने वाले बदलावों से जुड़ी होती है।"[21]

ऐसे बदलाव को स्वराज ही अभिव्यक्ति देता है, जिसकी जड़ें भारत के समाज की धार्मिक और आध्यात्मिक परपराओं में मिलती हैं। स्वराज उसी परंपरा को आधुनिक रूप देता है। स्वराज में भारत का विचार है। इसी विचार ने अपनी जादुई प्रेरणा से एक ऊर्जा पैदा की। वह एक लहर बन गई। जिसके पहले प्रतिनिधि श्रीअरविंद हैं। बंग-भंग से उभरे जनाक्रोश ने उन्हें राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि पुरुष बनाया। वे स्वराज को पूर्ण स्वराज में बदलने की आवाज बने। उसी दौर में उनकी भेंट एक योगी से होती है। वे विष्णु भास्कर थे, जिनसे उन्होंने योग सीखा। अपनी पहली आध्यात्मिक अनुभूति से गुजरे। एक दिन श्रीअरविंद को यह लगा कि स्वयं स्वामी विवेकानंद उन्हें यौगिक शिक्षा दे रहे हैं। स्वराज पर उनके विचार को इसी कड़ी में देखना चाहिए, जो उत्तरपाड़ा व्याख्यान के रूप में मशहूर है।

स्वराज की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है। एक समय था, जब स्वराज से आत्मनिर्णय का अर्थ ग्रहण किया जाता था। ब्रिटिश शासन के उस दौर में आत्मनिर्णय ही वह पहली सीढ़ी थी जिस पर विचारक अपना कदम रखते थे। उस समय स्वराज में पूर्ण स्वराज्य की कल्पना एक दुस्साहसिक छलाँग समझी जाती थी। प्रसिद्ध दार्शनिक कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य का बहुत चर्चित व्याख्यान है, 'विचारों में स्वराज'। वह क्या है? इसे उनके शब्दों में ही पढ़ें, "संस्कृति का पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परंपरागत विचारों और भावनाओं

स्वामी विवेकानंद ने स्वदेशी स्वराज की अवधारणा दी। इसे नदी की उपमा से ही बहुत सटीक तरीके से समझना आसान है। मान लीजिए कि स्वराज है नदी। स्वराज का एक दर्शन है। उसमें जीवन जीने का एक आदर्श ढंग है। स्वराज्य है, घड़ा। शासनतंत्र है, वह माध्यम, जो अगर घड़े को भरना चाहता है, तो उसे नदी के जल से भरने के लिए घड़ा लेकर नदी के पास जाना पड़ेगा। प्यासे व्यक्ति, परिवार और समाज की प्यास तृप्त करने के लिए यह एक मात्र तरीका है। क्या नदी घड़े के पास जाएगी? ऐसा होता नहीं है। नदी के पास घड़े को जाना पड़ता है, थोड़ा झुकना पड़ता है, तब नदी का जल रूपी प्रसाद घड़े में भर पाता है। आज की भाषा में नल की टोटी से भी जल भरने की यही पद्धति होगी

को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक प्रेत या भूत की तरह वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आपको उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नए जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।"[22]

वे बताते हैं कि हम भारतीय स्वराज से विमुख हुए तो कैसे? "इस बात से कोई असहमत नहीं हो सकता कि पश्चिमी संस्कृति के विचारों और भावनाओं का एक पूरा तंत्र हमारे ऊपर आरोपित किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अनिच्छुक लोगों पर लादी गई है: हमने स्वयं ही इस शिक्षा की माँग की थी और यह मानना शायद उचित ही है कि कई मामलों में यह वरदान सिद्ध हुई है। मेरा इतना ही मंतव्य है कि इस शिक्षा को हमारे प्राचीन भारतीय मन के साथ सजगतापूर्वक नहीं जोड़ा गया है। वह भारतीय मन अधिकांश शिक्षित लोगों में निष्क्रिय हो चुका है और संस्कृति के सचेतन स्तर के नीचे चला गया है। वह उनके पारिवारिक जीवन के चले आ रहे कामों और कुछ सामाजिक और धार्मिक कृत्यों में अभी भी सक्रिय हैं, किंतु इनका इन शिक्षित लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है।"[23] उनका यह निष्कर्ष है, "हमें वास्तविक भारतीय जन के सांस्कृतिक स्तर की ओर लौटना होगा और उनके साथ मिल कर एक ऐसी संस्कृति विकसित करनी होगी जो हमारे समय तथा देशज प्रतिभा के अनुरूप हो। यही विचारों में स्वराज प्राप्त करना होगा।"[24]

मेरा यह निष्कर्ष है, स्वराज्य के केंद्र में साधारण नागरिक होना चाहिए। इस पर प्रश्नचिह्न बना हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वराज्य तो है, लेकिन साधारण नागरिक से सुराज बहुत दूर है। जहाँ तक स्वराज का प्रश्न है, उसकी यात्रा अत्यंत प्रखर है। रास्ते ऊबड़-खाबड़ हैं। अर्थात यात्रा जोखिमों से भरी है। जगह-जगह 'अंगुलिमाल' अपने शिकार के इंतजार में है। ऐसी विकट यात्रा का नेतृत्व कब मिलेगा? यह प्रश्न अब उत्तर में बदल रहा है। जो स्वराज चाहते हैं, वे यह अनुभव कर रहे हैं कि लंबे अंतराल के बाद एक जीवट नेतृत्व देश को मिल गया है। जीवट नेतृत्व की कुछ खास पहचान होती है। उसमें प्रगाढ़ता होती है, प्रखरता होती है, त्वरा होती है, तीव्रता होती है, परिवर्तन करने का निश्चय होता है, प्रतिकूलताओं को बदलने का संस्कार होता है, ऐसे नेतृत्व में क्रांतिकारिता की बेचैनी भी होती है। जिसमें अपने स्वभाव-स्वधर्म के लिए शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न गहरी अभीप्सा पाई जाती है। ऐसा नेतृत्व जब हो, तो स्वराज का राष्ट्र बनाया जा सकता है। भारत स्वराज्य में है। स्वराज की यात्रा पर उसे कदम बढ़ाना है। यह भी याद रखना है कि आधुनिकता को स्वीकारें, लेकिन उसकी जड़ें देश की मिट्टी में हो। इसे देशज आधुनिकता कहना उचित होगा।

अंत में अंबिकादत्त शर्मा का कथन इसलिए देना उचित है, क्योंकि कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य की ही भाँति "भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण' भी उनके गहन चिंतन-मनन की अभिव्यक्ति से बना है। उनका कथन है, "जिन्हें भारत की नियति पर विश्वास है कि भारत अक्षय अध्यात्म विद्या का स्रोत है, उनके लिए यह अनिवार्य है कि स्वतंत्रता से पूर्व उजागर हुए उस मार्ग पर चलना बंद न करें और भारतीय परंपरा के प्रश्न को आजकल के परिवेश में फिर से जाँचें। इतना ही नहीं, उसको 'राजपथ' समझें और दृढ़ता के साथ उसी पर चलते हुए अपने भाषिक स्वराज और भाष्यधर्मी अभियान को क्रियान्वित करें ताकि राष्ट्रीयता, परंपरा आध्यात्मिकता और भाषा का चतुर्भुज प्रकट हो सके। पश्चिमी अनुभव और पश्चिमी सभ्यता से मुक्त अपने जातीय अनुभव और जातीय अस्मिता से युक्त सांस्कृतिक जीवन की पुरोगामी गतिशीलता को फिर से प्राप्त करने के लिए ऐसे बौद्धिक पुरुषार्थ और तदनुरूप ही भाष्यधर्मी सर्जना को जगाना भारत के वैचारिक स्वराज के लिए बहुत आवश्यक है।"[25]

संदर्भ

1. विचारों का स्वराज, कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य, प्रतिमान, जनवरी-जून, 2013, पृ. 438 [विशेष-एक पुस्तक 'भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण' में इस आलेख का शीर्षक 'विचारों में स्वराज' दिया गया है, क्योंकि मूल पाठ अंग्रेजी में है। उसका शीर्षक है-'स्वराज इन आइडियाज'। इसका अनुवाद सागर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के पूर्व उपाचार्य डॉ. प्रतापचंद्र ने किया है।]
2. वही, पृ. 446
3. हिंद स्वराज और ग्राम स्वराज्य, महात्मा गांधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।
4. हिंद स्वराज, महात्मा गांधी, अध्याय-स्वराज्य क्या है?, पृ. 34
5. वही, पृ. 34
6. वही, पृ. 36
7. वही, पृ. 36
8. वही, अध्याय-20, छुटकारा, पृ.107
9. हिंदी नवजीवन, महात्मा गांधी, 29 जनवरी, 1925, पृ. 198
10. यंग इंडियन, महात्मा गांधी, 19 मार्च, 1931, पृ. 38
11. वही, 15 अक्टूबर, 1931, पृ. 305
12. समाज-विज्ञान विश्वकोश, संपादक-अभय कुमार दुबे,
13. वही, स्वतंत्रता, भारतीय विचार, खंड-6, पृ.1930
14. वही
15. वही
16. वही
17. भारतीय चित्त, मानस व काल, धर्मपाल, अध्याय-सभ्यताओं का नवीनीकरण तो करना ही होता है, पृ. 43
18. समाज-विज्ञान विश्वकोश, संपादक-अभय कुमार दुबे, खंड-6, पृ. 1930-31
19. भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण, प्राक्कथन का अंश, पृ. 7-8, अंबिकादत्त शर्मा
20. वही, पृ. 51
21. इंडियन आइडियाज ऑफ फ्रीडम, डेनिस डाल्टन, प्रस्तावना, पृ.IX-XV
22. विचारों का स्वराज, कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य, प्रतिमान, जनवरी-जून, 2013, पृ. 438
23. वही, पृ. 438
24. वही, पृ. 446
25. भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण, अध्याय-वि-औपनिवेशीकरण, वैचारिक स्वराज और भाषाई राजपथ, पृ. 85

प्रो. सुनील के. चौधरी

ग्राससरूट गवर्नेंस एवं विधायन

शासन के हिस्से के तौर पर जमीन से जुड़े संस्थानों को मजबूत करने में विधायन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। एक विश्लेषणपरक अध्ययन

सामान्य तौर पर शासन अनादि काल से ही मुख्यधारा की राजनीति के केंद्र में रहा है लेकिन उस समय से लेकर समकालीन युग तक लगातार राजनीतिक शासनों ने जमीनी स्तर पर शासन को पार्श्व में धकेला है। लोकतांत्रिक राजनीति के मानचित्र में इसका तुलनात्मक रूप से कम महत्व होने के कारण, जमीनी स्तर के शासन को मुख्यधारा के शासन में आने के लिए कानून का सहारा लेना पड़ा। सभाओं और समितियों के संदर्भ में ये उनकी प्रारंभिक अनौपचारिक शुरुआत थी। इसके बावजूद आधुनिक राजनीति में लॉर्ड रिपन के नेतृत्व में औपनिवेशिक हस्तक्षेप के माध्यम से जमीनी स्तर पर शासन का पहला ऐसा प्रयास हुआ, जिसके पश्चात स्वतंत्रता के बाद संसदीय कानूनों के तहत विभिन्न विधायी पहल की गई।

वर्तमान शोधपत्र प्राचीन भारत से नए भारत तक जमीनी स्तर के शासन के लोकतांत्रिक प्रक्षेप पथ को रेखांकित करने के साथ-साथ समकालीन समय में जमीनी स्तर के संस्थानों को प्रमुखता देने और उन्हें सहारा प्रदान करने में विधायन की भूमिका का विश्लेषण करने का एक ईमानदार प्रयास है।

ग्राससरूट गवर्नेंस एवं विधायन *एलआर मॉडल* से सिद्धांतीकरण

हालांकि राजनीतिक विमर्श में 'जमीनी स्तर' की अवधारणा एक नई घटना है, लेकिन वर्तमान समय में सामाजिक विज्ञान शब्दावली में यह बहुत प्रचलन में है। विद्वानों ने स्थानीय संस्थानों के स्तर पर शासन को मजबूत करने के उद्देश्य से जमीनी स्तर के शासन की अवधारणा की है। इस अवधारणा के चलते जमीनी स्तर का शासन स्थानीय शासन के साथ जुड़ गया है। बहुलता, विविधता और बहुसांस्कृतिकता के संदर्भ में मूलभूत अंतर होने के बावजूद जमीनी स्तर और स्थानीय शासन दोनों सैद्धांतिक प्रतिमान में समान से लगते हैं।

एक घटना के तौर पर, उदारीकरण के बाद, विशेष रूप से 1980 के दशक के बादजमीनी स्तर पर शासन ने भारतीय राजनीतिक विमर्श में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। जमीनी स्तर के शासन को *एलआर मॉडल* से भली-भांति समझाया जा सकता है। यह मॉडल इसे एक सामाजिक आधार के रूप में साथ देता है, इसे एक आर्थिक चेहरे के रूप में मजबूत करता है और राजनीतिक मामले के रूप में लोकतांत्रिक तंत्र के प्रतीक को बनाए रखता है। एलआर मॉडल के माध्यम से जमीनी स्तर के शासन के तीन मुख्य आधारों पर प्रकाश डाला सकते हैं, अर्थात्, जड़ से जुड़ना, वास्तविकता के साथ जुड़ना और वास्तविकता के साथ रहना। *एलआर मॉडल* के माध्यम से प्रतिबिंबित होने वाले जमीनी स्तर के शासन के तीन प्रमुख आधारों पर प्रकाश डाला जा सकता है, अर्थात, जड़ से जुड़ना, वास्तविकता के साथ संपर्क स्थापित करना और यथार्थ के साथ रहना।

जड़ों से जुड़ना

ऐसी संस्था जो अपने मूलभूत लोकाचार से जुड़ी होती है और ताकत और अस्तित्व के स्रोत के लिए जिनका जुड़ाव मौलिक संसाधनों से होता है, वे शासन की जीवंत एजेंसी के रूप में निकलकर आती हैं। जमीनी स्तर पर संस्थाएं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही तरीकों से स्थानीय लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करके कहीं बेहतर ढंग से उनकी सेवा कर सकती हैं।

लोकतन्त्र यानी जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता के शासन को सही मायने में इसकी उत्पति

की जड़ से जुड़कर ही पाया जा सकता है। सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक लगाव की भावना को ग्राम पंचायत जैसी जमीनी स्तर की संस्थाएं केवल अपनी जड़ों के साथ घनिष्ठ संबंध रखकर ही पा सकती हैं। इस भावना को कभी-कभी उनकी मूलभूत शुरुआत और पालन-पोषण की भूमि में भी देखा जा सकता है। लोगों और जमीनी स्तर के संस्थानों के बीच प्रतिबद्धता जितनी अधिक होगी, जमीनी स्तर के प्रशासन के प्रति उनके बीच विश्वास उतना ही मजबूत होगा।

ग्रामीण क्षेत्रों के साथ संबंध

केंद्र और उसके घेरे के आसपास के क्षेत्रों, शहर और गांव, शहरी और ग्रामीण लोगों के बीच दोहरे संबंध सभी आधुनिक समाजों की खास विशेषता रही है। केंद्र, शहर और शहरी दुनिया में रोजगार के अधिक अवसरों के साथ मानव शक्ति और संसाधनों के केंद्रीकरण ने दुनिया के लगभग सभी समाजों में विभाजन और विघटन को बढ़ा दिया है। जिसके चलते विकास और शासन दोनों ही तीव्रता और समग्रता के मामले में सभी उपनगरीय क्षेत्रों, गांवों और ग्रामीण दुनिया में बहुत पीछे हैं।

जमीनी स्तर के संस्थान स्थानीय कौशल और स्रोतों का सबसे अच्छा उपयोग करते हैं जो उन्हें निरंतर विकास और सुशासन की ओर ले जाते हैं। अपनी प्राकृतिक क्षमताओं और पारंपरिक विरासतों के परिपेक्ष्य में ग्रामीण दुनिया की खोज शासन को दीर्घायु बनाती है। वास्तव में, ग्रामीण भारत ही वास्तविक भारत है और ग्रामीण दुनिया के साथ एक प्रभावी संपर्क ही उत्पादक, सुरक्षात्मक और तरक्की करने वाले शासन का मार्ग प्रशस्त करता है।

वास्तविक के साथ रहना

कोई भी शासन जो वास्तविकता के साथ पनपता है और व्यावहारिकता के साथ जीवित रहता है, उसके प्रभाव दीर्घकालिक होते हैं। जमीनी स्तर का शासन (ग्रासरूट गवर्नेंस) टॉप-डाउन के उल्टे बॉटम-अप दृष्टिकोण के सिद्धांत पर आधारित होता है। फीडबैक और इनपुट किसी भी कानून के महत्वपूर्ण पैरामीटर हैं जो टिकाऊ शासन के लिए जमीन तैयार करते हैं। जमीनी स्तर पर काम करने वाले संस्थानों के पास ज्वलंत व कड़वे अनुभवों की सीधी और प्रत्यक्ष जानकारी होती है।

भले ही आधुनिक तकनीक ने पारंपरिक तकनीक को दरकिनार करते हुए ग्रामीण दुनिया में प्रवेश पा लिया है, लेकिन अधिकांश ग्रामीण बुराइयों को सही ढंग से संबोधित नहीं किया गया है, जिसके चलते ग्रामीण-शहरी विभाजन हो गया है। ऐसे में जमीनी स्तर के संस्थान ग्रामीण वास्तविकताओं को शहरी शासन से जोड़कर इस विभाजन को कम करने के तरीके प्रदान करते हैं।

स्थानीय संस्थानों के स्तर पर प्रशासन और शासन ने जड़, ग्रामीण और वास्तविक दुनिया के संदर्भ में अपने प्रतिबिंब और अनुगूंज के माध्यम से जमीनी स्तर के शासन की नींव रखना शुरू कर दिया है।

जमीनी स्तर पर शासनः इतिहास से प्रासंगिकता

स्थानीय स्तर पर स्थानीय समितियों और समुदायों के माध्यम से प्रतिबिंबित शासन भारत के पौराणिक और राजनीतिक इतिहास दोनों का आधार बना। शांति की पुस्तक के रूप में महाभारत के शांतिपर्व में, ग्राम संघ के रूप में परिभाषित स्थानीय परिषदों या ग्राम परिषदों के अस्तित्व के कई संदर्भ शामिल थे। वास्तव में, पंचायत शब्द के अस्तित्व का श्रेय पंच पंचस्वनुस्थितः को दे सकते हैं, जो 'ग्राम समुदाय में नागरिक और न्यायिक मामलों पर प्रभावी नियंत्रण' रखने वाली ग्राम परिषदों या समुदायों की उपस्थिति को दर्शाता है।

स्थानीय प्रशासन की जड़ें 3500 ईसा पूर्व की *मनुस्मृति* से भी पहचानी जा सकती हैं। हालांकि *मनुस्मृति* ने सिंधु घाटी सभ्यता के समय एक उन्नत सामाजिक प्रणाली और सभ्यता की रूपरेखा तैयार की थी, लेकिन इसमें प्रशासन की एक स्थानीय प्रणाली के काम काज का भी उल्लेख किया गया था, जिसे बाद में वैदिक और ऋग्वैदिक काल द्वारा शामिल और प्रमाणित किया गया था। इसका जिक्रविशेष रूप से ईसा से लगभग 400 साल पहले *कौटिल्य के अर्थशास्त्र* में मिलता है।

इसी अवधि के दौरान गांव प्रशासन की मूल इकाई के रूप में उभरे और बाद में सम्राट के विधायी प्रावधानों के माध्यम से बनाई गई सबसे लोकप्रिय सभाओं के रूप में संघ, सभा और समिति के गठन का आधार बने।

सभा और समिति के संदर्भ में ग्राम परिषदों या समुदायों का निर्माण किसी सोचे-समझे कानून का परिणाम नहीं था; बल्कि वे निरंतर विकास का परिणाम थे। वे नागरिक, राजनीतिक और न्यायिक प्रशासन पर विचार-विमर्श के माध्यम के रूप में सामने आये थे। स्थानीय प्रशासन की ऐसी प्रथाउत्तर के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी मौजूद थी। मौर्यों, गुप्तों और चोलों के दौरान प्रशासन में नियमित परिषदों, समितियों और समुदायों के संदर्भ में प्रशासन की स्थानीय इकाइयों के विभिन्न कामकाजी उदाहरण शामिल थे।

मुगलों के अधीन मध्यकाल में प्रशासन की स्थानीय व्यवस्था समृद्ध हुई। शेरशाह सूरी जैसे मुगल शासकों ने स्थानीय प्रशासन प्रणाली में महत्वपूर्ण कानून लाए। इसके अन्तर्गत पंचायतों को आत्मनिर्भर तरीके से गांवों पर शासन करने का अधिकार दिया गया। गांव में बुजुर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली पंचायतें जल्द ही प्रशासन और दंड देने वाली संस्थाएं बन गई। मुगल सम्राट, अकबर ने स्थानीय, राजस्व और न्यायिक प्रशासन में पदानुक्रमित प्रशासन की शुरूआत की। इसके माध्यम से वेव्यापक प्रशासनिक प्रबंधन करके स्थानीय शासन की अपनी योजना में आगे बढ़ने में कामयाब रहे।

जहां तक स्थानीय प्रशासन और शासन की बात है, प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में कानून और कार्यकारी कार्रवाई संयुक्त हो गई थी। यह ब्रिटिश राज ही था जिसने औपचारिक रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में भारतीयों को स्थानीय स्वशासन का अधिकार प्रदान किया।

जॉर्ज फ्रेडरिक सैमुअल रॉबिन्सन, रिपन के प्रथम मार्कस, जो लॉर्ड रिपन के नाम से लोकप्रिय हैं, उनके द्वारा पेश किया गये ब्रिटिश प्रस्ताव, 1882 ने अब तक राज के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रहे नगरपालिका संस्थानों के विकास के लिए स्थानीय स्वशासन की योजना शुरूआत की।

लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्तर पर स्वशासन सुनिश्चित करने के उद्देश्य से स्थानीय प्रशासन को आसान बनाने के लिए कई विधायी सुधारों को शुरू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वशासन के आधार के रूप में स्थानीय प्रशासन कानून को बाद में गांधीजी द्वारा *राम राज्य का आधार बनाने वाली ग्राम पंचायत के विचार* के माध्यम से विकसित किया गया था।

राजाओं को चुनने से लेकर न्यायिक संस्थानों का चयन करने, मुद्दों पर बहस करने से लेकर न्याय पर विचार-विमर्श करने तक, प्राचीन से आधुनिक भारत तक स्थानीय संस्थाएं नागरिक प्रशासन, वित्तीय प्रबंधन और न्यायिक निर्णय की धुरी बन गई, जहां लोग शासन के प्रमुख संचालक बन गए।

जमीनी स्तर का शासनः स्वतंत्रता के बाद का दृष्टिकोण

हालांकि संसदीय शासन की लोकतांत्रिक प्रणाली के प्रति उनकी बढ़ती रुचि के बावजूद, संस्थापकों में जमीनी स्तर के शासन के प्रति कोई खास आकर्षण नहीं था। इसलिए जमीनी स्तर पर शासन के आधार के रूप में पंचायतों ने राज्य नीति के निदेशक सिद्धांतों के तहत संविधान के भाग IV, अनुच्छेद 40 में ही अपना रास्ता खोज लिया। स्वतंत्रता मिलने के बाद भारत में पूरे स्थानीय प्रशासन को संवैधानिक बाध्यता, कानून के माध्यम से, पंचायतों के अधीन रखकर, इसे राज्य सरकारों के विवेक पर छोड़ दिया गया।

भारत में स्वतंत्रता के बाद 1952 में केंद्र सरकार ने स्थानीय प्रशासन के मूलभूत आधार के रूप सामुदायिक विकास कार्यक्रम योजना शुरू की जो एक कार्यकारी पहल थी। गांव को स्वशासन की स्थानीय इकाई के बजाय एक समुदाय मानने से और अत्यधिक केंद्रीकरण के कारण सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपने वांछित परिणाम प्राप्त करने में विफल रहा। वैसे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के तहत मजबूत की गई कुछ परियोजनाएं जैसे कि हरियाणा में नीलोखेड़ी, अच्छी विधायी पहल थी लेकिन स्थानीय समर्थन और राज्य का वांछित सहयोग न मिलने के कारण राष्ट्रीय स्तर पर मूर्त रूप नहीं ले सकीं।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के तहत ग्राम समुदाय के रूप में विकसित होने वाले गांवों ने बाद में 1959 में बलवंत राय मेहता समिति की रिपोर्ट में अनुशंसित *पंचायती राज प्रणाली* की तीन-स्तरीय संरचना का मार्ग प्रशस्त किया। मेहता समिति द्वारा प्रस्तावित लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के हिस्से के रूप में ग्राम स्तर पर *ग्राम पंचायत*, ब्लॉक स्तर पर *पंचायत समिति* और जिला स्तर पर *जिला परिषद* का गठन किया जाना था। राज्य विधान के माध्यम से पंचायतों को स्वशासन की इकाइयों के रूप में सशक्त बनाना एक अभिनव और क्रांतिकारी प्रयोग माना गया। मेहता की सिफारिशों के कड़ाई से अनुपालन में परिलक्षित मूलभूत उत्साह 1970 के दशक के दौरान कुछ राज्यों में पंचायतों और जनजातीय परिषदों के रूप में पहले कुछ वर्षों के दौरान देखा गया था। हालांकि बढ़ते *राजनीतिकरण, जातिकरण और नौकरशाहीकरण* के कारण पंचायतों से जो बढ़ी हुई अपेक्षाएं थी उनमें गिरावट आने लगी।

बलवंत मेहता समिति द्वारा अछूती रह गयी स्वशासन कानून की बुनियादी बुराइयों को बाद में 1977 में अशोक मेहता समिति ने पंचायती राज प्रणाली की दो-स्तरीय संरचना के माध्यम से संबोधित करने का प्रयास किया, लेकिन इसमें कोई खास सफलता नहीं मिली। राव समितियां - हनुमंत राव और जी वी के राव, सिंघवी समिति, थुंगन समिति, खर्रा समिति 1980 और 1990 के दशक के दौरान सरकारिया आयोग के साथ केवल राजकोषीय समेकन और संवैधानिक प्रावधानों के माध्यम से स्थानीय इकाइयों के सशक्तिकरण की वकालत करने वाले निकायों की सिफारिश कर रही थीं। संसद द्वारा किये गये 64वें संविधान संशोधन के माध्यम से राजीव गांधी सरकार का आधे -अधूरे मन से किया गया प्रयास उच्च सदन में समर्थन के अभाव में कानून में बदलने में विफल रहा।

1990 के दशक की शुरुआत ने न केवल जमीनी संस्थानों और शासन के प्रति स्थानीय विमर्श को बदल दिया, बल्कि यह दशक 1992-1993 में पी वी नरसिम्हा राव के कांग्रेस शासन के दौरान 73 वें और 74 वें संशोधनों के रूप में दो कानूनों के सफल रूप से पारित होने के कारण भी खास रहा।

चार दशकों के संवैधानिक कामकाज के बाद, भारतीय राजनीति ने स्वतंत्रता मिलने के पश्चात आखिरकार ग्रामीण और शहरी भारत दोनों जगहों में जमीनी स्तर के संस्थानों के संवैधानिक कामकाज के माध्यम से जमीनी स्तर पर शासन प्रदान करने के लिए अपना रास्ता बना लिया। स्थानीय स्वशासन से लेकर जमीनी स्तर के शासन तक बदलते राजनीतिक विमर्श ने भी 1990 के दशक से प्रगति की, जो 2010 से 24 अप्रैल को पंचायती राज दिवस के उत्सव के साथ संस्थागत होने लगा।

जमीनी स्तर पर शासन और कानूनी प्रक्रियाएं

संसदीय संस्थाओं द्वारा बनाए गए कानून को उसकी स्वीकृति और स्थायित्व के संदर्भ में हमेशा कार्यकारी कार्रवाई से अधिक प्राथमिकता दी जाती है।चूंकि कानून में शासन की एक लंबी और कठोर प्रक्रिया शामिल होती है, इसलिए जमीनी स्तर पर शासन स्थानीय स्तर पर प्रशासन और विकास की सभी स्तरों को संबोधित करने का प्रयास करता है। समकालीन भारतीय राजनीति में विधायी प्रक्रियाओं की तीन ऐसी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा सकता है, अर्थात्, स्व-विकास और स्व-शासन का स्थान, लोगों को शक्ति और लोगों का लोकतंत्र।

स्व-विकास और स्वशासन का स्थान

73वें और 74वें संवैधानिक संशोधनों के पारित होने का उद्देश्य पंचायत और नगर पालिका जैसी जमीनी स्तर की संस्थाओं को स्व-विकास और स्वशासन के स्तर पर लाना है। जमीनी स्तर के संस्थानों को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने से राज्य सरकारों के लिए नियमित चुनाव कराना, सशक्तिकरण सुनिश्चित करना और मुख्यधारा के लोकतंत्रीकरण के साथ एकीकृत होना अनिवार्य हो जाता है।

भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण राष्ट्र के लिए, जमीनी स्तर की संस्थाएं स्व-विकास और स्व-शासन के लिए कानूनी पहल करने का पहला स्थान हो

सकती हैं। जमीनी स्तर पर लोगों को शामिल करना और जोड़ना लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को मजबूत कर सकता है और संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के उच्च स्तरों पर सुशासन के उत्प्रेरक के रूप में कार्य कर सकता है। संसदीय कानून पारित होने के पिछले तीन दशकों के दौरान जमीनी स्तर के संस्थानों के कामकाज ने विधायी अनुभवों और स्थानीय लोगों के संपर्क को बढ़ावा दिया है।

लोगों को शक्ति

अतीत का प्रत्यक्ष लोकतंत्र अब समकालीन समय के अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में बदल चुका है। प्रत्येक कानून के नियमन की सफलता शुरुआती चरण में लोगों को शामिल करके उस पर चर्चा, विचार-विमर्श और उसके अनुप्रयोग में निहित है। जमीनी स्तर के संस्थानों के माध्यम से गांव और नगर पालिका स्तर पर लोगों को सशक्त करने से लोकतांत्रिक शासन के एक नए युग की शुरुआत हो सकती है।

तकनीकी क्रांति और परिवर्तन ने प्रशासन को लोगों के करीब ला दिया है। जमीनी स्तर पर शासन की वास्तविक नियंत्रण और संतुलन प्रणाली अधिक स्पष्ट हो सकती है, जिसमें निर्णय लेने की अधिक शक्ति स्थानीय लोगों के पास होगी। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की भाजपा के नेतृत्व वाली एनडीए सरकार के द्वारा शुरू किए गए नए भारत के विभिन्न अभियान और पहल जैसे *स्किल इंडिया, स्टैंड अप इंडिया, स्टार्टअप इंडिया* जमीनी स्तर पर संसाधनों का उपयोग और उत्पादन करके लोगों को सशक्त बनाने पर आधारित हैं।

लोगों का लोकतंत्र

आज के सभी अप्रत्यक्ष लोकतंत्रों में विधानों का केंद्र बिंदु लोग ही हैं। जमीनी स्तर के लोकतंत्र को वास्तविक लोगों के लोकतंत्र के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि जमीनी स्तर पर लोगों के पास अपने प्रतिनिधियों को चुनने और उन्हें विकास और शासन के सभी मुद्दों पर व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से जवाबदेह बनाने की शक्ति है। इस प्रकार लोगों का लोकतंत्र जमीनी स्तर पर निर्वाचित और निर्वाचकों के बीच सीधा संबंध सुनिश्चित करने का प्रयास करता है।

विचार-विमर्श लोकतंत्र के रूप में, लोगों का लोकतंत्र जमीनी स्तर के लोकतंत्र का मूल है क्योंकि यह एक ओर चर्चा और विचार-विमर्श के लिए व्यापक मंच प्रदान करता है और दूसरी ओर शिकायतों और असंतोष का निवारण करता है। चूंकि वास्तविक संप्रभुता जमीनी स्तर पर लोगों के पास है, इसलिए ग्राम सभा जैसी जमीनी स्तर की संस्थाएं अपने निर्वाचित विधायकों के लोकतांत्रिक अनुपालन को सुनिश्चित करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।सरकार बनाकर और उसे हटाकर, जमीनी स्तर के संस्थान लोगों के लोकतंत्र को मजबूतीदेते हैं और सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक जीवन की विभिन्न धाराओं पर कानून बनाकर लोगों के शासन को बनाए रखते हैं।

जमीनी स्तर पर शासनः समसामयिक विधायी चुनौतियाँ

अच्छे कानून सुशासन का आधार होते हैं, इसलिए जमीनी स्तर का शासन भी अच्छे जमीनी कानून से आकार लेता है। 1990 के दशक के बाद 73वें और 74वें संवैधानिक संशोधनों के रूप में जमीनी स्तर पर कानून बनाए गए, जिनका उद्देश्य जमीनी स्तर पर स्वच्छ और हरित शासन सुनिश्चित करना था। वैसे पिछले तीन दशकों में ग्रामीण और शहरी भारत में जमीनी स्तर के संस्थानों को तीन कारकों, यानी बाजार, प्रौद्योगिकी और भ्रष्टाचार के कारण गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा है।

प्रतिस्पर्धी बाजार

21वीं सदी की विशेषता बाजार-संचालित राजव्यवस्था है। 1990 के दशक से राज्य की घटती भूमिका के साथ, प्रतिस्पर्धी हितधारकों ने समकालीन समय में सभी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अहम स्थान ले लिया है। प्रतिस्पर्धी बाजार योग्यतम की उत्तरजीविता के विपरीत योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांत से संचालित होता है। विकास और शासन के लिए प्रतिस्पर्धी बाजार कारकों पर जमीनी स्तर के संस्थानों की निर्भरता स्थानीय जनशक्ति और संसाधनों पर उनकी पकड़ को कमजोर करती है। घरेलू बाजार में कॉर्पोरेट पूंजी के प्रवेश ने लोकतांत्रिक राजनीति में जमीनी स्तर के खिलाड़ियों के लिए इस प्रतिस्पर्धा को और अधिक कठोर और चुनौतीपूर्ण बना दिया है।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप, जमीनी स्तर के संस्थान वैश्विक खिलाड़ियों से प्रतिस्पर्धा के बीच टिके रहने के लिए कड़ी मेहनत कर रहे हैं। यद्यपि स्थानीय से, वैश्विक बनो नारा समकालीन समय में 'वोकल फॉर लोकल' के नारे में बदल रहा है, वैश्विक बाजारी ताकतें जमीनी स्तर पर अस्तित्व और आजीविका की गुणवत्ता को प्रभावित कर रही हैं। सब्सिडी के मुद्दे पर उच्च श्रेणी की प्रतिस्पर्धा और खेतों और कृषक समुदाय पर डब्ल्यूटीओ के प्रतिबंधों को देखते हुए कृषि क्षेत्र सबसे अधिक प्रभावित होता नजर आ रहा है।

प्रतिस्पर्धी बाजार-संचालित राजनीति में राज्य अब नियामक नहीं रह गया है; बल्कि राज्य जमीनी स्तर पर रोजगार और विकास के और अधिक अवसर प्रदान करने वाला एक सुविधा प्रदाता बन गया है। जमीनी स्तर के संस्थानों को अब भारी पूंजी निवेश और उससे जुड़े हस्तक्षेपों के साथ ग्रामीण और शहर के भीतरी इलाकों में घुसने वाले नए वैश्विक संस्थानों का सामना करने में मुश्किलें आ रही हैं। वैश्विक संबंधों को बदलने में बहुत कम या न के बराबर भूमिका होने के कारण, जमीनी स्तर की संस्थाएं अपने सीमित कानूनों के चलते स्वयं के शासन में रूकावट पैदा कर रही हैं।

बदलती प्रौद्योगिकी

सूचना और संचार प्रौद्योगिकी में आमूलचूल और क्रांतिकारी परिवर्तन ने जहां कई अवसर प्रदान किये हैं वहीं जमीनी स्तर के संस्थानों और शासन के लिए नई चुनौतियां लेकर आए हैं। जबकि पश्चिम अपने तकनीकी नवाचारों और क्रांतियों से एक दशक आगे निकल गया है। ग्रामीण भारत में जमीनी स्तर के संस्थान अपने शासन तंत्र में तकनीकी जानकारी और नए डेटा सॉफ्टवेयर को स्वीकार करने और आत्मसात करने में धीमे और अड़ियल हैं। ग्राहक एकीकरण सुविधा, बीमा भुगतान प्रक्रियाएं, ऑनलाइन शिक्षा, लाभार्थी भुगतान रजिस्टर जैसी सूचना तकनीकी सेवाएं कुछ

ऐसी सेवाएं हैं जिनका सामना जमीनी स्तर के संस्थान संचार अनुभव, जोखिम और विशेषज्ञता के अभाव में करने में असमर्थ हैं। इन सभी घटनाओं के कारण जमीनी स्तर पर कृषक समुदाय बदलते न्यूनतम समर्थन मूल्य और बदलती बाजार प्रौद्योगिकियों के साथ खुद को अद्यतन (अपडेट) करने में विफल रहा है।

जमीनी स्तर के संस्थानों के लिए मुख्य शासन चुनौतियों में से एक आईसीटी से जुड़ी सेवाओं को लोक-केंद्रित और नागरिक-अनुकूल बनाना है ताकि जमीनी स्तर पर आम लोगों को गुणवत्तापूर्ण सेवा वितरण सहायता दी जा सके। शिक्षा और सूचना के अधिकार ने निस्संदेह जमीनी स्तर के प्रशासन और शासन में पारदर्शिता और जवाबदेही लाई है, लेकिन पुरानी पीढ़ियों के बीच शैक्षिक जागरूकता और साक्षरता की कमी ने जमीनी स्तर के संस्थानों को लोगों तक विकास के लाभ पहुंचने से काफी हद तक रोक दिया है।

कम साक्षरता, अनियोजित विकास और शासन की केंद्र से बढ़ती दूरी के परिणामस्वरूप स्थानीय स्तर पर नई आईसीटी सेवाओं को क्रियान्वित करने में जमीनी स्तर के संस्थान विफल रहे हैं।

बढ़ता भ्रष्टाचार

जमीनी स्तर पर राजनीतिक दलों के मनमाने प्रवेश और निकास ने जमीनी स्तर के लोकतंत्र को राजनीति का केंद्र बना दिया है। पंचायत और नगर पालिका चुनाव अब उत्सव का अवसर बन गये हैं। जाति आधारित पारंपरिक संस्थाएं जमीनी स्तर पर पार्टी-गठबंधन संरचनाओं में बदल गयी हैं। स्थानीय चुनाव बड़े पैमाने पर धन और बाहुबल से लड़े जाते हैं। बढ़ते राजनीतिकरण के कारण राजनीतिक हिंसा में वृद्धि हुई है क्योंकि पंचायत और नगर पालिकाएं राज्य विधानसभा और संघीय राजनीति का प्रवेश द्वार बन गये हैं।

यदि 1960 के दशक में धन की कमी ने जमीनी स्तर के संस्थानों को आर्थिक रूप से निष्क्रिय बना दिया था, तो समकालीन समय में धन और संसाधनों की प्रचुरता ने इन संस्थानों को भ्रष्टाचार का गढ़ बना दिया है। जमीनी स्तर के संस्थान महात्मा गांधी *राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, स्वच्छ भारत अभियान, उज्ज्वला योजना, अंत्योदय* आदि केंद्र और राज्य-संचालित प्रमुख कार्यक्रमों का निर्माण और क्रियान्वय करने वाली एजेंसियां बन गए हैं। केंद्र सरकार की प्रत्यक्ष लाभार्थी योजनाओं में खाताधारकों को सीधे भुगतान करने के बावजूद, सरपंचों पर आरोप है कि वे जॉब कार्ड के इशारे पर धन के वितरण में दबंगई दिखा रहे हैं। अमीर और उच्च जाति के लोगों को गरीबी रेखा से नीचे (बीपीएल) कार्ड धारकों के रूप में पाया गया है। कई अध्ययनों से प्राथमिक शिक्षा, मिड डे मील, शिक्षक चयन और ड्रॉप-आउट सूचना में जमीनी स्तर पर खुलकर भ्रष्टाचार हुआ है।

जमीनी स्तर के विकास और महापौरों और सरपंचों जैसे जमीनी स्तर के प्रमुखों की वृद्धि में समानांतर वृद्धि देखी जा सकती है। 1960 और 1970 के दशक के दौरान संशोधन से पहले की अवधि के साइकिल चलाने वाले पंच अब एसयूवी (स्पोर्ट्स यूटिलिटी व्हीकल) चलाते नजर आते हैं। जमीनी स्तर पर लोगों ने भ्रष्टाचार के साथ-साथ भ्रष्टों को भी स्वीकार कर लिया है। जमीनी स्तर के पदाधिकारियों और उच्च अधिकारियों के बीच सांठगांठ, सामाजिक लेखा परीक्षा के घटते मानक और बढ़ती लालफीताशाही ने आम जनता को असंतुष्ट किया है जिसने जमीनी स्तर के संस्थानों को अराजकता की ओर ढकेल दिया है।

आगे की राह

कानून मुख्यधारा की राजनीतिक इकाइयों से लेकर जमीनी स्तर की राजनीति तक लोकतांत्रिक विकास और शासन का सार हैं। कानूनों की असरकारिता और प्रभावशीलता लोकतांत्रिक संस्थानों की पारदर्शिता और जवाबदेही निर्धारित करती है। कानूनों की कई बुराइयों और कमियों को जमीनी स्तर पर मिलने वाले इनपुट और फीडबैक के आधार पर उन्हें तैयार करते समय ही संबोधित किया जा सकता है।

जमीनी स्तर के संस्थानों को परिवर्तन का उत्प्रेरक और विकास की एजेंसी बनाकर जमीनी स्तर के प्रशासन की नई चुनौतियों को अवसरों में बदला जा सकता है। इस तरह के विकास के लिए, लोकतांत्रिक राजनीति के सभी स्तरों पर नीतियों और कार्यक्रमों की शुरुआत, निर्माण और कार्यान्वयन में टॉप-डाउन विधि और बॉटम-अप दृष्टिकोण के बीच एक तालमेल सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. बिद्युत चक्रवर्ती (2019)। लोकलाइजिंग गवर्नेंस इन इंडिया। रूटलेज
2. जी पलानिथुरल (2002)। डायनामिक्स ऑफ न्यू पंचायती राज सिस्टम इन इंडिया दिल्ली: कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग हाउस।
3. जॉर्ज मैथ्यू (1994)। पंचायती राज: फ्रॉम लेजिस्लेशन टू मूवमेंट। दिल्ली: कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग हाउस।
4. जॉर्ज मैथ्यू (2013)। ग्रासरूट डेमोक्रेसी एंड डिसेन्ट्रलिजैशन। भूटान अध्ययन केंद्र।
5. सत्यजीत सिंह (2016)। द लोकल इन गवर्शानेंस। पॉलिटिक्स डिसेन्ट्रलाइजेंशन एण्ड इनवॉयरमेंट। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. सुनील के चौधरी (2009)। 'डेमोक्रेटिक रेसुरगेन्स ऑफ पंचायती राज इंस्टीटूशन्स : कोपिंग अप विथ द न्यू चौलेंजेस ऑफ ग्रससरुट्स गवर्नेंस', इंडियन जर्नल ऑफ सोशल इंक्वायरी, 1 (1), पीपी. 103-117। आईएसएसएन 0974-9012।
7. सुनील के चौधरी (2012) 'जमीनी स्तर पर लोकतांत्रिक पुनर्गठन: पंचायती राज संस्थानों के कामकाज की पुन: जांच' [हिंदी में] के.एस. सेंगर और प्रभात चौधरी (सं.) में। भारत में पंचायती राज व्यवस्था [हिन्दी में]। आगरा: गोल्डन वैली प्रकाशन, पृष्ठ 35-39। आईएसबीएन नंबर 978-81-922921-0-6.
8. सुनील के चौधरी (2013)। सामाजिक न्याय और सतत विकास के लिए पंचायती राज संस्थाओं का संघर्ष (हिंदी में), इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, खंड 5, संख्या 2, पृष्ठ 417-426। आईएसएसएन: 2249-2577

डॉ. डी.डी. पटनायक

संसद की विधायी क्षमता मापदंड और विसंगतियाँ

कानून बनाने का काम विधायिका को सौंपा गया है। हमारे संविधान में सैद्धांतिक प्रावधान स्पष्ट और समुचित हैं, फिर भी विधि निर्माण के कार्य में अनेक दुविधाएँ और विसंगतियाँ सामने आती हैं। एक विमर्श

प्राचीन भारत की उदात्त परंपरा, विभिन्न प्रतिमानों के अंतर्गत, -'पंच' प्रणाली के अलावा, राज्य में विधायी क्षेत्र से अटी पड़ी है।[1] स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपने -'सत्यार्थ प्रकाश' में 'धर्म सभा' और 'विद्या सभा' के साथ 'राजसभा' (राजनीतिक सभा) को रेखांकित किया है।

किंतु यह एक अलग विमर्श है कि पहले के अनुभव का वर्तमान विधायी अंग पर कुछ असर पड़ सकता है या नहीं। पश्चिमी आदर्शों और संस्थानों से ओतप्रोत, भारतीय संविधान के निर्माता, प्रबल परिस्थितियों की प्रेरक शक्ति के दबाव में सदियों पुरानी भारतीय परंपराओं को नहीं देख सके थे।[2] सौभाग्य से इस समय हमारे पास संवैधानिक ताने-बाने वाली संसद है और हमारा विमर्श तदनुसार सीमित होगा।

ब्रिटिश, अमेरिकी प्रणाली के साथ तुलना

हमारी संवैधानिक प्रणाली और विशेष रूप से संसद की स्थिति वेस्टमिंस्टर और अमेरिकी प्रारूप के बीच खड़ी है। भारतीय संसद ब्रिटिश संसद की तरह संप्रभु बिलकुल नहीं है, यह एक लिखित संविधान की निर्मिति है और न्यायिक समीक्षा के प्रावधान द्वारा मर्यादित है। इसके विपरीत, भारतीय संसद स्पष्ट रूप से अमेरिकी कांग्रेस की तुलना में एक कदम ऊपर है क्योंकि इसमें कार्यपालिका विधायिका के साथ जुड़ी हुई है, जो शासन की संसदीय प्रणाली की एक विशिष्ट विशेषता है। प्रधान मंत्री सरकार और संसद दोनों का नेता होता है, जो सरकार को अपने बहुमत के आधार पर संसद में वांछित उपायों को पारित करने में सुविधा प्रदान करता है। इसके अलावा, "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" के भारतीय/ब्रिटिश विश्वदृष्टि, जिसका अर्थ है संसद द्वारा अधिनियमित कानून, से अलग, अमेरिकी प्रथा "कानून की उचित प्रक्रिया" के सिद्धांत को बरकरार रखते हुए न्यायिक सर्वोच्चता स्थापित करती है। ए.के. गोपालन के मामले (1950) में, सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि "कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" का सिद्धांत सुस्थापित भारतीय मूल्य है। पहला स्पष्ट रूप से दूसरे की तुलना में अधिक लोकतांत्रिक है।

संवैधानिक प्रावधान

संविधान के अनुच्छेद 79 में प्रावधान किया गया है: "एक संसद होगी जिसमें राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा शामिल होंगी"; और यह भारत की संवैधानिक व्यवस्था का विधायी अंग है।

स्पष्टतया विधायिका कानून बनाने के लिए होती है, विधि निर्माण के लिए होती है। यह एक नया कानून बना सकती है, मौजूदा कानून में संशोधन और उसका उन्मूलन कर सकती है। कानून बनाने का इसका मापदंड केवल संविधान द्वारा प्रदत्त सीमा के अधीन होता है। यह एक ऐसे क्षेत्र में कार्य करता है जहाँ कार्यपालिका और न्यायपालिका अटूट रूप से परस्पर जुड़े हुए हैं, जिसका अर्थ है कि एक-दूसरे से पूरी तरह से अछूती नहीं है। विधान स्वत: संचालित नहीं होते हैं और उन्हें कार्यपालिका द्वारा क्रियाशील बनाया जाना होता है। इस मोड़ पर सुप्रीम कोर्ट यह सुनिश्चित करने के लिए सामने आता है कि उनमें से कोई भी संवैधानिक दायरों का उल्लंघन करता है या नहीं। इसके अलावा, भारत द्वारा ब्रिटिश प्रणाली के पदचिह्नों का अनुकरण करने वाली संसदीय प्रणाली का चयन करना बहस का मुद्दा हो सकता है। भारतीय नेता ब्रिटिश तामझाम और विशेष रूप से भारत शासन अधिनियम, 1935 के तहत अभ्यस्त हो गए थे। इसलिए

उन्होंने संविधान सभा के कुछ सदस्यों जैसे केटी शाह और एमवी कामथ द्वारा सुझाई गई राष्ट्रपति प्रणाली को प्राथमिकता नहीं दी। ग्रेट ब्रिटेन के संवैधानिक इतिहास में स्पष्ट रूप से द्विदलीय प्रणाली रही है; जबकि भारत बहु-भाषाओं, जनसांख्यिकीय स्थितियों आदि के कारण बहुदलीय प्रणाली के लिए बाध्य रहा है। इसलिए, राजनैतिक अस्थिरता इसमें प्रचुर रूप में रही है, जैसा कि 1979-80, 1990, 1998 और 1999 से स्पष्ट है; और अस्सी के दशक के उत्तरार्ध से 2014 तक गठबंधन सरकार ही रही थी। इसी कारण से इटली और जापान का कड़वा अनुभव अभिलेखित है।

संघटक शक्तियाँ

आइए हम इस शीर्षक के साथ विमर्श को नई दिशा देते हैं। संसद को अपनी विधायी शक्ति के दायरे में संवैधानिक प्रावधानों में संशोधन करने के लिए निर्धारित किया गया है। 1980 में सुप्रीम कोर्ट में मिनर्वा टेक्सटाइल मिल मामले की सुनवाई के दौरान न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने कहा, "संघटक शक्ति का अर्थ वस्तुत: विधायी प्रक्रिया है"। संविधान में संशोधन संसद द्वारा बनाए गए कानून के माध्यम से किया जाता है। यह विचार-विमर्श उच्चतम न्यायालय की तुलना में संसद की सापेक्ष भूमिका और स्थिति को भी रेखांकित करता है।

1950 में अंतरिम संसद ने निवारक निरोध पर कानून बनाने वाला पहला संविधान संशोधन किया। यह ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य के रूप में सामने आया। सुनवाई के दौरान न्यायमूर्ति एस. आर. दास ने संक्षेप में टिप्पणी की, "न्यायिक सर्वोच्चता के बजाय हमारे पास संवैधानिक सीमाओं के अधीन विधायी सर्वोच्चता का सिद्धांत है"। उपराष्ट्रपति जगदीप धनखड़ ने 26 नवंबर 2023 को संविधान दिवस की पूर्व संध्या पर यही प्रमाणित किया।

शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (1957) और सुजान सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1965) के मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने माना कि मौलिक अधिकारों और अनुच्छेद 368 सहित संविधान के किसी भी प्रावधान में संशोधन करने की संसद की क्षमता वैध थी। दो साल बाद, यानी 1967 में, सुप्रीम कोर्ट ने गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में अपने ही फैसले को पलट दिया। न्यायालय ने 5 के मुकाबले 6 के बहुमत (मुख्य न्यायाधीश के. सुब्बा राव द्वारा निर्णायक मत के फलस्वरूप) माना कि मौलिक अधिकार पवित्र थे, और अनुच्छेद 13 (2) के तहत संसद मौलिक अधिकारों में ऐसा संशोधन नहीं कर सकती थी जिससे कि उन्हें कम किया जा सके या उल्लंघन किया जा सके। फैसले में आगे स्पष्ट किया गया कि यदि मौलिक अधिकारों में संशोधन किया जाना है, तो एक नया संविधान बनाने के लिए एक नई संविधान सभा बुलाई जानी चाहिए, जिसमें इसे मौलिक रूप से बदलने का अधिकार हो सकता है। अनुच्छेद 368 की व्याख्या केवल प्रक्रियात्मक के रूप में की गई थी न कि वास्तविक रूप में। अनुच्छेद 368 के माध्यम से संसद शायद ही संविधान में मनमाने ढंग से ऐसे संशोधन कर सकती है, जो संविधान की अभिव्यक्ति से समझौता करेगा।

24वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1971 में अमल में लाया गया था, जिसने अनुच्छेद 368 में उपवाक्य (2) को जोड़कर गोलक नाथ फैसले को खारिज कर दिया था। इसमें लिखा गया है, "इस संविधान में किसी भी बात के बावजूद, संसद अपनी संघटक शक्ति का प्रयोग करते हुए इस अनुच्छेद में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार इस संविधान के किसी प्रावधान में परिवर्तन, बदलाव या निरसन के माध्यम से संशोधन कर सकती है"। इसे राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा जो विधेयक पर अपनी सहमति देंगे (जिसका अर्थ है कि राष्ट्रपति अपनी सहमति नहीं रोक सकते) (3). "इस अनुच्छेद के अधीन किए गए किसी संशोधन पर अनुच्छेद 13 की कोई बात लागू नहीं होगी। इसलिए संसद को संविधान के भाग-3 में संशोधन का अधिकार दिया गया है।

इस संशोधन अधिनियम को ऐतिहासिक केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के रूप में उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई थी। इस मामले का फैसला हमारे संवैधानिक आख्यान के इतिहास में मील का पत्थर है। न्यायालय ने अपनी पूर्ण पीठ से 24 अप्रैल 1923 को फैसला सुनाया। इसने 4 के मुकाबले 9 के बहुमत से 24वें संशोधन की वैधता को सही ठहराया। यह माना गया कि संसद संविधान के किसी भी हिस्से में संशोधन कर सकती है, लेकिन संविधान की मूल संरचना में नहीं। इस प्रकार 'मूल संरचना' नामक एक नया सिद्धांत संवैधानिक ढाँचे के शब्दकोश में प्रवेश कर गया; लेकिन यह परिभाषित नहीं किया गया था कि मूल संरचना की अवधारणा क्या है। यह न्यायाधीशों के व्यक्तिगत निर्णयों से निकाला गया था जिसमें इसकी अलग-अलग पुष्टि की गई थी। संक्षेप में, इसमें लोकतांत्रिक गणतंत्रीय धर्मनिरपेक्ष चरित्र, संसदीय प्रणाली, संघीय संरचना, कानून का शासन और न्यायपालिका की स्वतंत्रता शामिल है। किंतु 24वें संविधान संशोधन अधिनियम के अनुच्छेद 31© को न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया था, जिसमें यह प्रावधान किया गया था कि संविधान संशोधन अधिनियम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर होगा।

25वें संविधान संशोधन अधिनियम ने, जिसे 24वें संविधान संशोधन अधिनियम के साथ-साथ पारित किया गया था, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को प्रभावी बनाने के लिए मौलिक अधिकारों में संशोधन करने के संसद के अधिकार को संपूरित किया। मुख्य न्यायाधीश ए एन रे ने 1976 के मध्य में संविधान की मूल संरचना के दायरे

1950 में अंतरिम संसद ने निवारक निरोध पर कानून बनाने वाला पहला संविधान संशोधन किया। यह ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य के रूप में सामने आया। सुनवाई के दौरान न्यायमूर्ति एस. आर. दास ने संक्षेप में टिप्पणी की, "न्यायिक सर्वोच्चता के बजाय हमारे पास संवैधानिक सीमाओं के अधीन विधायी सर्वोच्चता का सिद्धांत है"। उपराष्ट्रपति जगदीप धनखड़ ने 26 नवंबर 2023 को संविधान दिवस की पूर्व संध्या पर यही प्रमाणित किया

को परिभाषित करने के लिए एक पूर्ण पीठ का गठन किया; लेकिन अचानक उन्होंने, विषय को अस्पष्ट ही छोड़कर, इसे निलंबित कर दिया। बदले हुए राजनैतिक माहौल के तहत, केंद्रीय कानून मंत्री शांति भूषण ने एक संशोधन की मांग की, जिसने संविधान की मूल संरचना को इस प्रकार परिभाषित किया, "यदि संसद के दो-तिहाई बहुमत से यह महसूस किया जाय कि एक संशोधन संविधान की मूल संरचना में शामिल है, तो इसे जनमत संग्रह के लिए लोगों पर छोड़ दिया जाएगा"। हालांकि, राज्यसभा में तब बहुमत हासिल करने वाली विपक्षी कांग्रेस ने इसे रोक दिया था।

42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 ने संसद की संघटक शक्ति पर न्यायिक समीक्षा की शक्ति को कम कर दिया था। हालांकि, 43वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1977 ने न्यायपालिका की शक्ति को बहाल किया।

वर्तमान स्थिति यह है कि संसद संविधान के किसी भी प्रावधान में संशोधन कर सकती है, लेकिन मूल संरचना को बदल नहीं सकती जैसा कि सम्यकता द्वारा समझा जाता है। एक संतुलन बनाया जाना चाहिए ताकि संविधान सामाजिक परिवर्तन के अगुआ के रूप में कार्य कर सके और केवल कानूनी तंत्र के रूप में कार्य न करे।

विधायी कार्यक्षेत्र

संविधान के अनुच्छेद 246(1) में प्रावधान है, "खंड (2) और खंड (3) में किसी बात के होते हुए भी, संसद को सातवीं अनुसूची की सूची 1 में वर्णित विषयों में से किसी के संबंध में विधि बनाने की अनन्य शक्ति है।"[3]

सामान्य शब्दों में, सातवीं अनुसूची के दायरे में विधायी शक्तियों का मापदंड और संविधान के विभिन्न भागों में शामिल प्रावधान नीचे दिए गए हैं:

1. संसद संविधान की सातवीं अनुसूची की संघ सूची के तहत सभी मदों पर कानून बना सकती है।
2. समवर्ती सूची के अंतर्गत सभी विषय। राज्यों के पास भी इस पर शक्ति है लेकिन संसद द्वारा बनाए गए कानून सर्वोच्च होंगे।
3. राज्य सूची के अंतर्गत आने वाली मदों, यदि राष्ट्रीय आपातकाल (संविधान के अनुच्छेद 353) की घोषणा के दौरान, पर समीचीन महसूस किया जाता है, तो संसद कानून बना सकती है।
4. इसके अतिरिक्त, जब कोई राज्य राष्ट्रपति शासन के अधीन हो तो संसद संबंधित राज्य के लिए राज्य सूची के आधार पर विधि अधिनियमित करेगी।
5. इसके अलावा, संविधान का अनुच्छेद 252 यह प्रावधान करता है कि संसद को दो या दो से अधिक राज्यों के लिए कानून बनाने और अन्य राज्यों द्वारा ऐसे कानून को अपनाने की शक्ति प्रदान की गई है।

फिर, सामान्य अवधि के दौरान संसद, संविधान के अनुच्छेद 249 के तहत राज्य सूची से कानून बना सकती है यदि राज्य सभा विशेष बहुमत (दो तिहाई उपस्थित और मतदान लेकिन सदन की संख्या के 50% से कम नहीं) द्वारा एक संकल्प पारित करती है कि राज्य सूची से कानून बनाना राष्ट्रीय हित के लिए समीचीन है। एकसदनीय संसद (अनंतिम) के पहले सत्र में राज्य सूची के आइटम 26 और 27 पर कानून बनाने के लिए संसद की क्षमता का विस्तार करने वाला ऐसा प्रस्ताव पारित किया गया। इसके अलावा, 1986 में संसद ने इस प्रावधान के तहत पंजाब के अशांत क्षेत्रों में सशस्त्र बलों को तैनात करने हेतु केंद्र सरकार को सशक्त बनाने के लिए कानून बनाया। विपक्षी भाजपा ने भी राष्ट्रीय हित को मजबूत करने वाले इस कदम का समर्थन किया। इसके अलावा, संविधान का अनुच्छेद 252 यह प्रावधान करता है कि संसद को दो या दो से अधिक राज्यों के लिए कानून बनाने और अन्य राज्यों द्वारा ऐसे कानून को अपनाने की शक्ति प्रदान की गई है।

अंत में, अवशिष्ट शक्तियों का प्रयोग संसद द्वारा अनुच्छेद 248 (1) के तहत किया जाता है, जिसमें लिखा गया है, "संसद के पास समवर्ती सूची या राज्य सूची में शामिल नहीं किए गए किसी भी मामले के संबंध में कोई भी कानून बनाने की अनन्य शक्ति है"।

अनुच्छेद 253 संसद को समझौतों को प्रभावी करने के लिए कानून बनाने का अधिकार देता है। इसके अलावा, संसद ऐसे अतिरिक्त-क्षेत्रीय मामलों पर कानून बना सकती है जिसमें भारत और विदेशों में भारतीय नागरिकों के विषय शामिल हों।

इसलिए एक अमेरिकी संविधानविद के.सी. वेयर ने यह निष्कर्ष निकाला कि "भारतीय संघ सहायक एकात्मक विशेषताओं के साथ एक संघीय राज्य के बजाय सहायक संघीय विशेषताओं के साथ एक एकात्मक राज्य है"। भारतीय विद्वान इस बिंदु पर कूद पड़ते हैं कि संघीय ढाँचा खतरे में पड़ रहा है, और वे संघीय प्रणाली के लिए अनिवार्य शर्त के रूप में राज्य स्वायत्तता और राज्य के अधिकारों को बढ़ाने के लिए चिल्लाते हैं। जब भी संघीय मुद्दे की बात आती है तो अमेरिकी मॉडल पर उनकी नजर गड़ जाती है। वे इस बात से बेखबर हैं कि अमेरिकी संघ केंद्राभिमुख है जबकि भारतीय विधा इसके ठीक विपरीत, केंद्रापसारक है। इसलिए अमेरिकी मॉडल को संघ बनाम राज्य शक्तियों और स्थिति के भारतीय संदर्भ में कभी भी नियोजित नहीं किया जा सकता था।

विधायी प्रक्रिया

विधायी प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 107-110 के तहत निर्धारित की गई है। अनुच्छेद 107 में लिखा गया है कि एक गैर-मौद्रिक विधेयक (साधारण विधेयक) संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत होगा। धन विधेयक का भेद अनुच्छेद 110 के तहत इस प्रकार बताया जाता है: कोई विधेयक धन विधेयक समझा जाता है यदि उसमें निम्नलिखित विषयों से संबंधित कोई उपबंध अंतर्विष्ट है:

1. सरकार द्वारा धन का अधिरोपण, छूट, परिवर्तन या विनियमन;
2. सरकार द्वारा धन उधार लेने का विनियमन;
3. भारत की संचित निधि की अभिरक्षा, किसी निधि में धन का भुगतान या धन की निकासी;
4. भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग;
5. किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना;
6. ऐसे धन की संचित निधि के खाते

में धन की प्राप्ति या किसी राज्य के संघ के लेखाओं की लेखापरीक्षा;

7. कोई अन्य विषय, चाहे वह विधेयक धन विधेयक है या नहीं, परिभाषित किया जाएगा।

धन विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से ही लोकसभा में पेश हो सकता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि बाद में अपनी सहमति के लिए प्रस्तुत किए जाने पर वह इसे नहीं रोकता है।

यदि किसी विधेयक को मंत्रिमंडल की मंजूरी प्राप्त होती है, तो इसे सार्वजनिक विधेयक या सरकारी विधेयक कहा जाता है। इस प्रकार का विधेयक संबंधित मंत्री द्वारा सदन में प्रस्तुत किया जाता है। सदस्य अपनी व्यक्तिगत हैसियत से भी विधेयक प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्हें गैर-सरकारी सदस्य के विधेयक के रूप में जाना जाता है। हालांकि, व्यवहारिक रूप से जब तक किसी विधेयक को सत्तारूढ़ दल का समर्थन प्राप्त नहीं होता है, तब तक पारित होना मुश्किल है क्योंकि वह शायद ही बहुमत जुटा सकता है। ऐसा लगता है कि व्यक्तिगत सदस्य केवल जनता की राय को उत्तेजित करने के लिए विधेयकों को प्रस्तुत करते हैं। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि लोकसभा की वर्तमान अवधि के भीतर केवल 14 निजी सदस्यों के विधेयक पारित किए गए हैं, जबकि 700 ऐसे विधेयक लंबित हैं, जो स्पष्ट रूप से विलुप्त होने के बिंदु पर हैं।

राज्यसभा में पारित एक विधेयक के लिए लोकसभा की मंजूरी लंबित रहती है, और अगर इस बीच लोकसभा भंग हो जाती है, तो भी वह जीवित रहता है। लेकिन यदि यह राज्य सभा की पुष्टि के इंतजार में केवल लोकसभा में पारित हो गया है, और लोकसभा का कार्यकाल समाप्त हो जाता है तो विधेयक भी समाप्त हो जाता है।

किसी विधेयक को स्थायी समिति या प्रवर समिति या संयुक्त प्रवर समिति को भेजा जा सकता है यदि उस पर लोक सभा की सहमति हो, यदि तत्काल आवश्यकता हो या यदि विधेयक जटिल प्रकृति का हो। बहुत बार सदस्य केवल समय काटने के लिए इस तरह के संदर्भ की माँग करते हैं,जैसा कि अतीत में असंख्य विधेयकों के अलावा कृषि विधेयक (2018) और दिल्ली सिविल सेवा नियुक्ति और स्थानांतरण अध्यादेश (2023) के मामले में हुआ था।

लोकसभा अध्यक्ष के पास यह व्याख्या करने की विशेष शक्ति है कि क्या कोई विधेयक धन विधेयक है। धन विधेयकों पर दोनों सदनों में मतभेद होने की स्थिति में लोकसभा की राय मान्य होती है। यदि दोनों सदनों के बीच अन्य विधेयकों पर मतभेद होता है, या यदि दूसरे सदन की राय के इंतजार में छह महीने बीत जाते हैं, तो विधेयक को संविधान के अनुच्छेद 108 के तहत संसद की संयुक्त बैठक में भेजा जाता है, जिसकी अध्यक्षता लोकसभा अध्यक्ष द्वारा की जाती है। पहली बार ऐसी बैठक 1961 में दहेज प्रतिषेध विधेयक के प्रश्न पर हुई थी। हाल ही में आतंकवाद निरोधक अधिनियम (पोटा) पर 26 मार्च, 2002 को ऐसी संयुक्त बैठक हुई थी। एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि संयुक्त बैठक में लोकसभा का प्रभुत्व अपनी संख्या के आधार पर रहता है जो राज्यसभा से दोगुने से भी अधिक है।

स्पष्ट रूप से एक विसंगति है। यद्यपि संविधान में यह प्रावधान है कि किसी विधेयक को जनता की राय प्राप्त करने के लिए भेजा जा सकता है, फिर भी ऐसा करने के लिए कोई ठोस तंत्र नहीं है। जनमत संग्रह का प्रावधान भारतीय संविधान के तहत बिलकुल नहीं है।

व्यवहार संबंधी विसंगतियाँ

जहाँ सैद्धांतिक प्रावधान स्पष्ट रूप से ठीक हैं, वहीं कानून निर्माण के क्षेत्र में कई परिचालनात्मक आशंकाएँ और विसंगतियाँ हैं।

आइए हम अगस्त 2019 में जम्मू-कश्मीर की विशेष स्थिति से संबंधित संविधान के अनुच्छेद 370 को हटाने वाले विधेयक को देखें। राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद जब विधानसभा भंग कर दी गई थी तब गृह मंत्रालय ने राज्य में शांति बनाए रखने की पूरी तैयारी कर ली थी। जब संसद का मानसून सत्र चल रहा था, यह सूचित किया गया कि गृह मंत्री 5 अगस्त 2019 को 11 बजे राज्यसभा में एक बयान देंगे।[4] लेकिन गृह मंत्री ने संविधान से अनुच्छेद 370 को खत्म करने के लिए एक विधेयक पेश किया। कुछ सदस्य नाराज हो गए और कपिल सिब्बल जैसे सदस्यों ने तर्क दिया कि ऐसे उपाय को उच्चतम न्यायालय में अस्वीकार कर दिया जाएगा। गृह मंत्री अमित शाह ने ठंडे चित्त से सदस्यों से विधेयक पर बाद में विचार-विमर्श करने के लिए कहा, और उन्होंने तुरंत पूछा कि क्या विधेयक पेश करने के योग्य है। ध्वनि मत से इस पर सहमति बनी। राज्यसभा के सभापति ने विचार-विमर्श के लिए तुरंत आठ घंटे का समय आवंटित किया - बेशक यह लंबे समय तक जारी रहा, और 10.30 बजे मत विभाजन के साथ समाप्त हुआ। इसे प्रवर समिति को भेजने के कुछ सदस्यों के निरर्थक कदम को गृह मंत्री की इस दलील पर चुप करा दिया गया कि अनुच्छेद 370 विगत सत्तर वर्षों में विचारोत्तेजक बहस की प्रक्रिया से गुजर चुका है और मोदी सरकार ने इसे खत्म करने का जनादेश हासिल किया था। विधेयक को तुरंत पारित कर लोकसभा में भेजा गया और अगले दिन, यानी, 6 अगस्त को लोकसभा में पारित किया गया। 8 अगस्त 2019 को इसे राष्ट्रपति की मंजूरी प्राप्त हुई। तब भौंहें तन गईं कि कैसे विधेयक विद्युत गति के साथ आगे बढ़ा। खैर, सरकार की ओर से पीठासीन अधिकारियों के साथ संपर्क करना संसदीय कार्य मंत्री का काम है; और जब इरादा तर्कसंगत होता है तो कोई भी किताबी प्रावधान इसे नहीं रोक सकता है।

एक और हालिया उदाहरण है जो बताता है कि उचित कानून तीव्र सार्वजनिक दबाव के सामने व्यर्थ हो जाता है। यह कृषि उपज विधेयक है - तीन किसान विधेयक, असंतुष्ट सदस्यों के बाधा डालने वाले रवैये के कारण 1994 से लंबित हैं। कांग्रेस पार्टी ने भी अपने चुनावी घोषणापत्र में इस तरह के कृषि सुधार का वादा किया था। सरकार ने इसे किसान संघों की माँग को भी ध्यान में रखते हुए तैयार किया था। लेकिन नवंबर 2019 में इसके पारित होने के बाद अभूतपूर्व उपायों का प्रतिरोध शुरू हो गया, और जो लोग पहले समर्थन कर रहे थे, वे पलट गए, और सरकार के पास 1 दिसंबर 2021 को तीन विधेयकों को निरस्त करने के अलावा कोई रास्ता नहीं था, भले ही सुप्रीम कोर्ट ने विधेयकों की पुनः जाँच के लिए एक समिति का गठन किया था।[5]

1960 के बाद से हर दस साल में विधानसभाओं और सरकारी नौकरियों में

सीटों के आरक्षण जैसे लोकलुभावन विधेयक एक मिनट के भीतर संसद में पारित हो जाते थे। 18-19 सितंबर 2023 को महिला आरक्षण विधेयक के पारित होने के दौरान भी इसका पता चला। ऐसे मामलों में कोई पर्याप्त प्रक्रिया नहीं अपनाई जा रही है क्योंकि कोई भी दल लोकलुभावन उपाय परअपने रुख को भिन्न रखते हुए अलग-थलग नहीं होना चाहता है।[6]

राष्ट्रपति की मंजूरी के मुद्दे पर एक और विवाद उठता है। ब्रिटिश प्रथा को याद करते हैं तो क्राउन तीन विकल्पों का प्रयोग कर सकता है, अर्थात, पूर्ण वीटो, निलंबनात्मक वीटो और पॉकेट वीटो। रानी ऐनी ने आखिरी बार 1707 में स्कॉटिश मिलिशिया बिल पर पूर्ण वीटो का प्रयोग किया।[7] हम ब्रिटिश प्रथा का अनुकरण करते हैं, हालांकि शब्दश: नहीं, यह इसका मिश्रण है। राष्ट्रपति अपने असहमति नोट के साथ किसी विधेयक पर पुनर्विचार के लिए विधेयक को वापस कर सकता है। यहाँ तक कि जब सरदार जैल सिंह ने 1987 में डाक गोपनीयता विधेयक में देरी की, तब भी प्रधानमंत्री राजीव गांधी के साथ उनके कथित कटु संबंधों के चलते राष्ट्रपति की नकारात्मक इच्छा पर आशंका जताई गई थी।

पॉकेट वीटो का मौन अर्थ है किसी विधेयक पर मितव्ययिता बनाए रखना। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश डी.वाई. चंद्रचूड़ ने सितंबर अक्टूबर 2023 के दौरान तीन राज्यपालों, केरल के आरिफ अहमद खान, तमिलनाडु के आरएन रबी और पंजाब के बनवारीलाल पुरोहित की देरी की रणनीति पर आक्षेप व्यक्त किया है। उनके शब्द कठोर थे - "राज्यपालों को यह महसूस करना चाहिए कि वे लोगों द्वारा निर्वाचित नहीं हैं...." ।[8] यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि तमिलनाडु विधानसभा ने जनवरी 2020 से राज्यपाल द्वारा लौटाए गए दस ऐसे कानूनों को फिर से बिना किसी संशोधन के पारित किया है। राज्यपाल निश्चित रूप से राज्य का प्रमुख होता है। राज्यपाल की संवैधानिक संस्था का कुछ महत्व तो है ही जिसे वह राज्य के अधिक से अधिक हित साधन के लिए प्रदर्शित कर सकता है। आइए हम एक मामले की कल्पना करें - वह है कश्मीर पुनर्वास विधेयक। फारूक अब्दुल्ला की अध्यक्षता वाली नेशनल कॉन्फ्रेंस सरकार ने 1986 में कश्मीर विधानसभा में इसे पारित किया था, जिसमें कहा गया था कि 1947 में पाकिस्तान चले गए कश्मीरियों के रिश्तेदार कश्मीर वापस लौट सकते हैं। राज्यपाल बीके नेहरू ने इसे लंबित रखा और विधानसभा का कार्यकाल समाप्त हो गया और इस तरह विधेयक समाप्त हो गया। 23 मार्च 1987 के विधानसभा चुनाव[9] में फारूक अब्दुल्ला फिर से सत्ता में लौट आए, और उन्होंने वही विधेयक पारित किया। इसके बाद राज्यपाल ने इसे राष्ट्रपति के पास उनके विचार के लिए भेज दिया। राष्ट्रपति आर वेंकटरमण ने संविधान के अनुच्छेद 143 के तहत सुप्रीम कोर्ट से राय मांगी। लेकिन राजनीति के उतार-चढ़ाव के चलते मामला शांत हो गया। यहाँ शायद ही यह तर्क दिया जा सकता है कि वैध कानून खतरे में था; लेकिन यहाँ दाँव पर लगे सवाल में देश को प्रभावित करने वाले राज्य की जनसांख्यिकी का अंतर्निहित क्षरण शामिल था, और इसलिए राज्य के प्रमुख का कर्तव्य था कि वह समकालीन राजनैतिक मजबूरी की ऊष्मा को नजरअंदाज करते हुए अपने विवेक को वृहत्तर उद्देश्य के लिए नियोजित करे।

अनूठी बात यह है कि संसद ने अपने ही कानून को संक्षिप्त कालखंड में रद्द कर दिया है। 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 हमारे सामने है। यह अपनी स्थापना के बाद से संविधान का एक प्रमुख बदलाव था; और सभी प्रावधानों का उद्देश्य न्यायपालिका की स्वतंत्रता, कानून के शासन, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, राष्ट्रीय आपातकाल प्रावधान के दायरे को व्यापक बनाना, लोकसभा की अवधि को बढ़ाना आदि को प्रभावित करना था। अगले साल राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी सफल होकर सत्ता में आये और 42वें संविधान संशोधन अधिनियम को हाशिए पर डालने के लिए 1978 में 44 वें संविधान संशोधन अधिनियम को लागू किया।

इसके अलावा, संसद को कानून बनाने का कड़वा अनुभव है। संसद को संप्रभु लोकप्रिय राय का प्रतिबिंबित करते माना जाना चाहिए, और इस तरह इसके कानून का सम्मान किया जाना चाहिए। हमने 2021 में दर्दनाक आंदोलन के प्रकोप के दौरान कृषि विधेयक के पतन का अनुभव किया है। लेकिन उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने हित के लिए संसदीय विधान को रद्द करना समझ से परे है। न्यायिक संशोधन अधिनियम नब्बे के दशक से विधायी मैदान में था। लेकिन बहुत विचार-विमर्श के बाद, विधि आयोग और उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के पूर्व न्यायाधीशों और प्रख्यात न्यायविदों का विश्वास लेते हुए, संसद ने सर्वसम्मति से इस महती अदालत की नियुक्ति को कारगर बनाने के लिए विधेयक पारित किया। अनुच्छेद 124 केवल यह निर्धारित करता है कि मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी; और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति उसके द्वारा मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से की जाएगी। सामान्य प्रथा यह है कि न्यायिक अधिकारियों (न्यायाधीशों) को कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किया जाएगा जैसा कि मानक अमेरिकी अभ्यास द्वारा प्रयुक्त किया जाता है, और जिसका हमने मोटे तौर पर अनुकरण किया है। लेकिन इस अधिनियम को 2015

पॉकेट वीटो का मौन अर्थ है किसी विधेयक पर मितव्ययिता बनाए रखना। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश डी. वाई. चंद्रचूड़ ने सितंबर अक्टूबर 2023 के दौरान तीन राज्यपालों, केरल के आरिफ अहमद खान, तमिलनाडु के आरएन रबी और पंजाब के बनवारीलाल पुरोहित की देरी की रणनीति पर आक्षेप व्यक्त किया है। उनके शब्द कठोर थे - "राज्यपालों को यह महसूस करना चाहिए कि वे लोगों द्वारा निर्वाचित नहीं हैं...." यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि तमिलनाडु विधानसभा ने जनवरी 2020 से राज्यपाल द्वारा लौटाए गए दस ऐसे कानूनों को फिर से बिना किसी संशोधन के पारित किया है। राज्यपाल निश्चित रूप से राज्य का प्रमुख होता है

उत्तराखण्ड शासन

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संकल्प
नये उत्तराखण्ड का

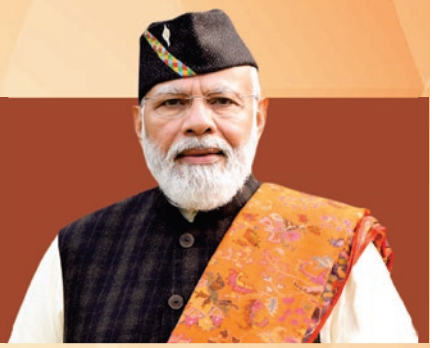

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

आगे बढ़ता उत्तराखण्ड

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के दिशा निर्देश व मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के कुशल नेतृत्व में डबल इंजन सरकार में उत्तराखण्ड विकास के नए आयाम गढ़ रहा है।

- वर्तमान सरकार के कार्यकाल मे माह सितम्बर 2023 तक लोक निर्माण विभाग द्वारा 1275 किमी मार्गों का नवनिर्माण, 2063 किमी0 लम्बाई में पुनः निर्माण तथा 58 नए सेतुओं का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त 227 ग्रामों को सड़क यातायात से जोड़ा गया। पूर्व निर्मित पक्के मोटर मार्गों में कुल 3047 किमी मार्गों का नवीनीकरण कार्य किया गया।
- जनपद टिहरी गढ़वाल के विधानसभा क्षेत्र नरेन्द्रनगर के अन्तर्गत लक्ष्मणझूला सेतु के समीप 132.30 मीटर स्पान के वैकल्पिक सेतु (बजरंग सेतु) का निर्माण कार्य प्रगति पर है।
- ऑल वेदर रोड़ परियोजना के अन्तर्गत स्वीकृत 737 कि.मी. लम्बाई के विरुद्ध 671 कि.मी. लम्बाई में कार्य गतिमान है। जिसके अन्तर्गत वर्तमान तक 597 कि.मी. लम्बाई में 02 लेन चौड़ीकरण एवं 574 कि.मी. लम्बाई में सतह लेपन के कार्य पूर्ण किये जा चुके है, शेष कार्य प्रगति पर है। चारधाम परियोजना के अन्तर्गत कुल प्रदत्त स्वीकृति लागत ₹9399.45 करोड़ के सापेक्ष वर्तमान अवधि तक कुल ₹6810.49 करोड़ का व्यय किया जा चुका है।
- मिशन अमृत सरोवर के अंतर्गत उत्तराखण्ड राज्य को आवंटित 975 अमृत सरोवरों के लक्ष्य के सापेक्ष 1239 सरोवरों को पूर्ण किया गया है जो 127% है।
- लखपति दीदी योजना। मुख्यमंत्री श्री पुष्कर सिंह धामी द्वारा महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिये विजन 2025 तक स्वयं सहायता समूह की 1.25 लाख महिलाओं को लखपति दीदी बनाया जायेगा। इसी क्रम में यू.एस.आर.एल.एम द्वारा समूहों की 40270 सदस्यों को वित्तीय वर्ष 2022-23 में लखपति दीदी के रूप में तैयार किया है व वित्तीय वर्ष 2023-24 में 50000 दीदीयों को लखपति दीदी के रूप में तैयार किये जाने का लक्ष्य है जिसकी प्रक्रिया गतिमान है।
- महिला समूहों द्वारा निर्मित उत्पादों को मुख्यमंत्री सशक्त बहना उत्सव योजना के अन्तर्गत रक्षा बन्धन के सुअवसर पर महिलाओं द्वारा निर्मित उत्पादों के विपणन हेतु राज्य में 337 स्टाल लगाकर सामग्री का विपणन कराया गया। जिससे महिलाओं द्वारा ₹57.16 लाख की सामग्री विपणन कर अपनी आजीविका में वृद्धि की गयी।
- वाईब्रेन्ट विलेज कार्यक्रम - इस महत्वकांक्षी योजना के तहत उत्तराखण्ड के तीन सीमान्त जनपद क्रमशः उत्तराकाशी, चमोली तथा पिथौरागढ़ के कुल 05 विकासखण्डों के 51 ग्रामों को चिन्हित किया गया है। इसके अन्तर्गत समस्त चिन्हित गांवों की कार्ययोजना तैयार कर ली गयी है। जिसमें एक ओर सभी गाँव को मूलभूत सुविधाओं से संतृप्त करने की प्राथमिकता दी गयी है, वहीं दूसरी ओर पर्यटन सुविधाओं का विकास, सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण सतत आजीविका कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के माध्यम से लगभग ₹755 करोड़ से अधिक लागत की 500 से अधिक योजनाओं को प्रस्तावित कर इन गाँवों में वाईब्रेन्सी लाते हुए अधिकाधिक परिवारों को बसाया जायेगा।

सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, उत्तराखण्ड द्वारा जनहित में जारी

www.uttarainformation.gov.in UttarakhandDIPR DIPR_UK UttarakhandDIPR

भारतीय राष्ट्रीय उपभोक्ता सहकारी संघ लिमिटेड, (एनसीसीएफ) देश में एक शीर्ष स्तर का उपभोक्ता सहकारी संघ है। इसका कार्य उपभोक्ता मामले विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली के प्रशासनिक नियंत्रण में है। एनसीसीएफ की सदस्यता में भारत सरकार, राष्ट्रीय स्तर के सहकारी संगठन, राज्य स्तर के उपभोक्ता सहकारी संघ, जिला और प्राथमिक स्तर की उपभोक्ता सहकारी समितियाँ शामिल है जो उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री और आपूर्ति में कार्यरत हैं। एनसीसीएफ के पास पूरे देश में विभिन्न राज्यों की राजधानियों और अन्य स्थानों पर स्थित 27 शाखाओं का एक नेटवर्क है। यह नामांकित सरकारी एजेंसी में से एक के रूप में विभिन्न राज्य सरकारों के लिए खाद्यान्न, विभिन्न किस्म की दाले, तिलहन की खरीद और आपूर्ति में कार्यरत है। एनसीसीएफ उचित मूल्य पर अंतिम उपभोक्ताओं के लाभ के लिए खुले बाजार में अभाव के समय और मूल्य वृद्धि के समय विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं की आपूर्ति का सफलतापूर्वक प्रबंधन कर रहा है। यह अस्पताल, विश्वविद्यालय, पशु-शाला और आवासीय युनिटो के निर्माण कार्यों में भी लगा हुआ है। उत्तर प्रदेश सरकार ने निर्माण कार्यों के लिए एनसीसीएफ को एक एजेंसी के रूप में नामित किया था। भारत सरकार का किसानों के उत्थान और उन्हें अपनी कृषि उपज बढ़ाने के लिए प्रेरित करने पर विशेष ध्यान है ताकि किसान समुदाय लाभान्वित हो सके। एनसीसीएफ भारत सरकार की विभिन्न किसान संबंधी योजनाओं जैसे धान, तिलहन, खाद्यान्न आदि की खरीद के लिए नामित एजेंसी हैऔर मूल्य स्थिरीकरण निधि (पी.एस.एफ.) के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की दालों (जैसे तुअर, उड़द, मूंग, मसूर और चना और प्याज) की खरीद और बाजार में इन वस्तुओं के अभाव की अवधि के दौरान रियायती दरों पर आपूर्ति के लिए बफर स्टॉकिंग। एनसीसीएफ देशभर में उपभोक्ताओं को 29 रुपये प्रति किलोग्राम की दर से 'भारतचावल', 27.50 रुपये प्रति किलोग्राम की दर से 'भारतआटा' और 60 रुपये प्रति किलोग्राम की दर से 'भारतदाल' (चना दाल) की आपूर्ति कर रहा है। उपभोक्ता मामले विभाग (DoCA) के दिशानिर्देशों के अनुसार उपभोक्ताओं की मदद करने के उद्देश्य से माननीय केंद्रीय उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्री श्री पीयूष गोयल जी ने 06 फरवरी, 2024 को कर्तव्य पथ, नई दिल्ली में भारत चावल की बिक्री का सुभारम्भ किया और 100 मोबाइल वैन को हरी झंडी दिखाई। एनसीसीएफ उपभोक्ताओं की उनकी जरूरत की वस्तुएं उचित मूल्य पर उपलब्ध कराकर उपभोक्ताओं की सेवा करता आ रहा है।

में सुप्रीम कोर्ट ने इस आधार पर धूल चटा दी थी कि इसने संविधान की मूल संरचना - यानी न्यायपालिका की स्वतंत्रता से समझौता किया है। न्यायाधीश न्यायाधीशों की नियुक्ति करना पसंद करते थे। यह सिद्ध करने के लिए बहुत सारे उदाहरण हैं कि विधायिका के क्षेत्र को न्यायपालिका द्वारा हड़प लिया गया है।

दो घटनाएँ हैं जिन पर गंभीरता से ध्यान देने की आवश्यकता है। एक है संविधान के अनुच्छेद 123 के तहत अध्यादेश का प्रावधान। यह कार्यपालिका द्वारा विधायन है कि इसमें अधिनियम के समान ही शक्ति है, इस तथ्य के बावजूद कि इसे संसद के अगले सत्र में छह सप्ताह के भीतर पारित किया जाना चाहिए, अन्यथा यह व्यपगत हो जाएगा। यह एक औपनिवेशिक डिजाइन है क्योंकि वायसराय की आवश्यकता के बारे में संसद की मंजूरी तत्काल उपलब्ध नहीं हो सकती थी। भारत शासन अधिनियम, 1935 ने भी इसे शामिल किया और स्वतंत्र भारत में भी यही प्रावधान जारी रहा। यद्यपि इसे किसी समय उचित ठहराया जा सकता है, लेकिन मोटे तौर पर माना गया है कि यह संसद की पवित्रता का औचक उल्लंघन है। सुप्रीम कोर्ट ने 1985 में अध्यादेश पर एक पीएचडी थीसिस को रिट याचिका के रूप में स्वीकार कर लिया। कोर्ट ने अध्यादेश को 'संविधान के साथ धोखाधड़ी' करार दिया।

दूसरा एक स्पष्ट उपकरण है प्रत्यायोजित विधान या अधीनस्थ विधान। यह निश्चित रूप से सभी लोकतंत्रों में इतना अधिक प्रयुक्त है कि संसद के पास न तो सक्षमता है और न ही विस्तार से कानून बनाने का समय है। यह केवल एक विधान का आधारभूत रूप तैयार करता है और सरकार को विस्तार से काम करने के लिए छोड़ देता है। फिर सरकार, इसके निष्पादन के दौरान, कानून को ऑपरेटिव बनाने के लिए विभिन्न नियमों, उप-नियमों, विनियमों और उप-कानूनों को जारी करती है। लॉर्ड हेवार्ट ऑफ बरी जैसे ब्रिटिश संवैधानिक विशेषज्ञों ने प्रत्यायोजित कानून को 'नई निरंकुशता' कहा। यह तर्क दिया जाता है कि संसद को लोगों द्वारा स्वयं कानून बनाने के लिए नियुक्त किया गया है, इसलिए प्रत्यायोजित प्राधिकरण फिर से अपने कामकाज को आगे प्रत्यायोजित कैसे कर सकता है। तथापि, अधीनस्थ विधान संबंधी परामर्शदात्री समिति का प्रावधान है। जाँच संबंधी अपनी सिफारिश को यह लोकसभा अध्यक्ष को सौंपता है जो इसे स्वीकार करते हैं, और बाद में लोकसभा के नेता के परामर्श से निवारण मिल सकता है; जो भारत के राजपत्र में प्रकाशित होते हैं। लेकिन इन प्रावधानों का सम्मान इन्हें तोड़कर अधिक किया जाता है न की इनके अनुसरण द्वारा"।[10]

न्यायिक समीक्षा की वृत्ति

न्यायिक समीक्षा संवैधानिकता की आधारशिला है, जो सरकार को सीमित करती है; जो उदारवाद के लिए मौलिक है। हालांकि यह पश्चिमी अवधारणा है, लेकिन यह भारतीय परंपरा के समरूप है। मोंटेस्क्यू ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत पर बल दिया था जिसके अनुसार शक्ति के विभाजन को अधिकार की सीमा का पर्याय बना दिया गया था। न्यायपालिका को संवैधानिक व्यवस्था के तीसरे अंग की स्थिति में पहुँचा दिया गया था क्योंकि इसे विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों की व्याख्या करना है। न्यायिक प्रतिबंधों को संविधानवाद की गारंटी के रूप में माना जाता है।[11] 1610 में इंग्लैंड में डॉ. बोनहम का मामला रेखांकित करता है कि "आम कानून संसद के कृत्यों को नियंत्रित करेगा और कभी-कभी उनके पूरी तरह से शून्य होने का निर्धारण भी करेगा"। संयुक्त राज्य अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश मार्शल, 1803 में मार्बरी बनाम मैडिसन मामले में, न्यायिक समीक्षा की मिसाल के रूप हालांकि न्यायिक सर्वोच्चता भारत में मौजूद नहीं है, न्यायिक समीक्षा का सार यहाँ एक स्थापित मानदंड है। न्यायिक समीक्षा भारत के सर्वोच्च न्यायालय की निर्दिष्ट शक्तियों में सम्मिलित नहीं है। यह केवल संविधान के तहत प्रदान की गई कुछ अन्य शक्तियों से प्राप्त की जाती है। एकमात्र अनुच्छेद जो सर्वोच्च न्यायालय में ऐसी शक्ति प्रदान करता है, वह अनुच्छेद 137 है जो कहता है: "संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून या अनुच्छेद 145 के तहत बनाए गए किसी भी नियम के प्रावधान के अधीन, सुप्रीम कोर्ट के पास उसके द्वारा सुनाए गए निर्णय या आदेश की समीक्षा करने की शक्ति होगी"। किंतु, भारत में कानून की न्यायिक समीक्षा अनुच्छेद 245 और 250 के प्रावधानों के अधीन है, जो उपयुक्त विधायिका को अपने अधिकार क्षेत्र में सर्वोच्च छोड़ देता है और अदालत से कानून पर वीटो शक्ति का प्रयोग करने या तीसरे सदन की तरह व्यवहार करने की उम्मीद नहीं करता है।[13]

इसके अलावा, अनुच्छेद 139 के तहत रिट, आदेश और निर्देश जारी करने के लिए सुप्रीम कोर्ट में निहित शक्ति पूरक क्षेत्राधिकार प्रदान करती है और इसे किसी भी कानून की जाँच करने में सक्षम बनाती है। दूसरी ओर अनुच्छेद 21 कानून द्वारा स्थापित जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार से संबंधित है", जिसका अर्थ है संसद द्वारा अधिनियमित कानून सर्वोच्च माने जाएंगे ।

भारत में न्यायिक समीक्षा का पहला मामला 1950 के ए के गोपालन बनाम मद्रास राज्य का है[14] जो संयुक्त राज्य अमेरिका के मार्बरी बनाम मैडिसन मामले के समान है। यह निवारक निरोध अधिनियम, 1950 का नतीजा था, जिसने संविधान के अनुच्छेद 13, 19, 21, 22 और 32 को कमतर किया था। न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत अपने मूल अधिकार क्षेत्र के भीतर रहते हुए अपनी शक्ति का प्रयोग किया। अदालत ने निवारक निरोध अधिनियम को 'अधिकारातीत' या असंवैधानिक माना और इसलिए इसे अवैध घोषित किया। ऐसा अगला उदाहरण जिसने जनता का ध्यान आकर्षित किया, वह 19 जुलाई 1969 को चौदह प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए घोषित अध्यादेश था, जिसे 4 अगस्त 1969 को कानून का रूप दिया गया था। सुप्रीम कोर्ट ने 10 फरवरी 1970 को इसे 'अधिकारातीत' घोषित कर दिया क्योंकि यह संविधान के भाग III के अनुच्छेद 31 का उल्लंघन करता है।[15] इसे फिर से 25वें संविधान अधिनियम के तहत उलट दिया गया था। 1971 के बाद ऐसे मामलों में राजस्थान विद्युत बोर्ड (1965), गोलक नाथ मामला (1967), केशवानंद भारती मामला (1973) और नेशनल न्यायिक नियुक्ति अधिनियम (2015) सम्मिलित हैं।[16] परंतु, एक बात जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए वह यह है कि ऐसे मामले न्यायालय में स्वत: ही नहीं आते हैं, वरन इस प्रयोजनार्थ एक याचिका दायर की जाती है। इसके अलावा, असाधारण मामलों में, निश्चित रूप से अदालत को

पहल करने से कोई नहीं रोकता है।

इस तरह का परिदृश्य अक्सर संसद और सर्वोच्च न्यायालय के बीच द्वंद्व पैदा करने के लिए उपयुक्त होता है। आइए हम कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं के विरोधाभास को समझने के लिए कतिपय उदाहरणों पर विचार करें। 12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति जगमोहन लाल सिन्हा ने 1971 के लोकसभा चुनाव के दौरान सत्ता के दुरुपयोग के आरोप में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को लोकसभा से अपदस्थ कर दिया, और 15 दिनों के भीतर सुप्रीम कोर्ट में अपील करने की राहत प्रदान की। ऐसा प्रयास करने के बजाय उन्होंने राष्ट्रपतीय अध्यादेश के मार्ग पर चल दीं कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और प्रधान मंत्री के खिलाफ कोई चुनावी मामला दर्ज नहीं किया जा सकता है। इसे 10 अगस्त 1975 को 39वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत वैध किया गया था।

विपरीत दिशा में एक और चमकता उदाहरण शाह बानो मामला है। 23 अप्रैल 1985 को सुप्रीम कोर्ट ने जबलपुर की तलाकशुदा शाह बानो को समर्थन दिया और उनके वकील पति अहमद खान को आपराधिक प्रक्रिया कोड, 1973 की धारा 125 के तहत गुजाराभत्ता देने के लिए कहा।[17] किंतु, तत्कालीन प्रधान मंत्री राजीब गांधी ने उलेमाओं की माँग को मान लिया कि कोई भी अंग शरीयत पर अधिकार क्षेत्र का प्रयोग नहीं कर सकता है जो मुसलमानों के व्यक्तिगत कोड को नियंत्रित करता है। सरकार ने एक ऐसा विधेयक पेश किया जिसने उच्चतम न्यायालय के फैसले को हाशिए पर डाल दिया।

इस प्रकार, अक्सर न्यायालय संसद द्वारा बनाए गए कानून को खारिज कर देता है और इसका प्रत्युत भी होता है - प्रत्येक दूसरे को अपने स्वयं के कार्य क्षेत्र के विस्तार हेतु हाशिए पर रखने के लिए अपनी ताकत का प्रदर्शन करता है। इस परिस्थिति में यह निष्कर्ष निकालना विचित्र है कि इन दोनों अंगों में से कोई भी दूसरे पर सर्वोच्च है। वास्तव में, दोनों एक दूसरे पर अतिक्रमण किए बिना अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं। लॉर्ड एक्टन का एक लोकप्रिय उद्धरण कहता है, "सरकार के रूपों के लिए मूर्खों को झगड़ने दें, सबसे अच्छा शासन करने वाला ही सबसे अच्छा है"। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने इसे इस प्रकार रेखांकित किया था, "कोई भी संविधान कितना भी अच्छा हो सकता है, किंतु यह निश्चित रूप से बुरा साबित होगा यदि जिन लोगों के ऊपर इसके क्रियान्वयन का भार है, वे बुरे होते हैं। इसी प्रकार, कोई संविधान कितना भी बुरा हो सकता है, यह अच्छा हो जायेगा यदि वे लोग अच्छे हैं जिन्हें इसके क्रियान्वयन का दायित्व दिया जाता है।"[18]

संदर्भ-

1. राधा कुमुद मुखर्जी, यूएन घोषाल, केएम पनिकर व अन्य ने इस दिशा में बहुत योगदान दिया है। अमेरिकी विश्वविद्यालय में 1927 में प्राचीन भारत में सरकार के सिद्धांत नामक बेनी प्रसाद की पीएचडी थीसिस एक उत्कृष्ट कृति है। अभिजीत प्रकाशन, 2016
2. संविधान सभा में डॉ. रघुवीर ने तर्क दिया कि श्री बीएन राव (संवैधानिक सलाहकार) संवैधानिक प्रणालियों के बारे में प्रबुद्ध होने के लिए दुनिया भर में घूम रहे थे; लेकिन संविधान सभा शायद ही भारतीय परंपरा के अनुभव के साथ विभिन्न क्षेत्रों में कुछ सीखने का प्रयास कर रही थी
3. सभी अनुच्छेद अलग-अलग समय पर भारत के संविधान, भारत सरकार के प्रकाशन के पाठ से लिए गए हैं। ये संदर्भ 1998 के प्रकाशन से हैं
4. द न्यू इंडियन एक्सप्रेस, 6 अगस्त 2019 - 5-6 अगस्त 2019 को लाइव टेलीकास्ट के अलावा सभी अखबारों के फ्रंट पेज पर प्रकाशित
5. 2 दिसंबर 2021। संविदात्मक खेती जैसे प्रावधान किसान के लाभ को सुनिश्चित करने के लिए थे; लेकिन इसकी उद्योगपतियों को जमीन सौंपने की रणनीति के रूप में व्याख्या की गई थी
6. वर्तमान लेखक ने व्यक्तिगत रूप से नौ संसद सदस्यों से बात की - दो आमने-सामने और अन्य फोन पर। उन सभी ने अपनी आपत्ति व्यक्त की - उन्हें गुमनाम रखने के लिए। उनके लिए, महिलाएं अपनी क्षमता के आधार पर संसद में प्रवेश कर सकती हैं क्योंकि कई आ रही हैं। उन्होंने कहा "ठीक है, पार्टियां महिलाओं के प्रतिनिधित्व को तेजी से प्रोत्साहित कर सकती हैं"। 20-23 अगस्त 2023
7. लास्की, हेरोल्ड जे., इंग्लैंड में संसदीय सरकार, ऑक्सफोर्ड, 1938, पृष्ठ 251-2
8. पूर्व कैबिनेट सचिव पी डी आई अचेरी, ने राज्यपालों के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश की इस तरह की भाषा पर गंभीर आपत्ति जताई। "स्टेट्स वर्सेस गवर्नर्स नींद क्लैरिटी फ्रॉम सुप्रीम कोर्ट", द न्यू इंडियन एक्सप्रेस, 15.11.2013., पृष्ठ 6
9. भाजपा समर्थकों ने भी कांग्रेस के मंसूबे को ध्वस्त करने के उद्देश्य से कांग्रेस के पक्ष में मतदान किया। बेशक, नेशनल कॉन्फ्रेंस की जीत हुई।
10. अवस्थी और महेश्वरी, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1990, पृ.513.
11. दास, एस.सी., भारत का संविधान: एक तुलनात्मक अध्ययन, पीएच.डी. थीसिस, बॉन विश्वविद्यालय, जर्मनी, 1953, चैतन्य प्रकाशन (स्थान का उल्लेख नहीं), 1968, पृष्ठ 299।
12. पूर्वोक्त
13. पटनायक, डी.डी., भारतीय सरकार और राजनीति, शाह प्रकाशन, संबलपुर, 1990, पृ.170
14. एआईआर 1950, एससी 27, 88, मुख्य न्यायाधीश हीरालाल कानिया
15. आर.सी. कूपर बनाम भारत संघ। 1979 की रिट याचिका संख्या 298 और 300
16. द टाइम्स ऑफ इंडिया, 11 अगस्त 1975, नई दिल्ली पृ.1 अन्य प्रकाशनों के अलावा
17. एआईआर 1985, एससी 844, 567, 945, मुख्य न्यायाधीश डी.वाई चंद्रचूड़.
18. पाइली, एम.वी., इंडियाज कॉन्स्टीट्यूशन, एस. चंद पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.376

साथ में:

- ऑस्टिन, ग्रानविले, द इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन, ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस, 1966
- बसु, डी.डी., इंट्रोडक्शन टू द कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976
- कौल, एमएन और शकधर, एसएल, प्रैक्टिस एंड प्रोसीजर ऑफ पार्लियामेंट, (सं.) अनूप मिश्रा, 7 वाँ संस्करण, लोकसभा सचिवालय, मेट्रोपोलिटन, 2015

प्रो. हिमांशु रॉय

भारत में व्यापार संघ भाषाई क्षेत्र और संघवाद

भारत के संघीयकरण में बिजनेस चैंबरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इतिहास का सिंहावलोकन

इस शोधपत्र में 1885 के बाद भारत के संघीयकरण में, जिसका पुनर्गठन भाषाई आधार पर हुआ था, उसमें बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (बीएनसीसीआई), साउथ इंडियन चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (एसआईसीसीआई) जैसे क्षेत्रीय बिजनेस चैंबरों की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही यह शोधपत्र 1948 तक क्षेत्रीय बिजनेस चैंबरों की माँग के प्रक्षेप पथ और उसके प्रभाव की भीजानकारी देता है।

भारत में संघवाद के विकास में बिजनेस चैंबरों और भाषाई क्षेत्रों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। संघवाद और इसकी माँग, और राजनैतिक कार्यक्रमों में इसका समावेश- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के घोषणापत्र-उनके निरंतर अनुनय का ही परिणाम थे। बंगाल विभाजन के औपनिवेशिक अधिनियम ने 1905 में, भाषाई प्रांतों के पक्ष में बड़े पैमाने पर समर्थन जुटाया जिसका प्रचार-प्रसार बाद में अन्य भाषाई क्षेत्रों और उप-क्षेत्रों तक हुआ।

यह समर्थन भाषाई एकरूपता का ही परिणाम था जिसे पूर्व-औपनिवेशिक व्यापारिक अर्थव्यवस्था के चलते विभिन्न भाषाई क्षेत्रों में विकसित होने में सदियाँ लगी थीं। इस समर्थन को औपनिवेशिक शासन के तहत एक क्षेत्रीय समुदाय के भीतर, उनके सामाजिक-संरचनात्मक मतभेदों के बावजूद नई प्रौद्योगिकियों, अर्थव्यवस्था और प्रशासनिक अधिनियमों के परिणामस्वरूप और मजबूत किया गया था। चैंबर अपने व्यापार संघों के सामूहिक व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते थे।

ब्रिटिश संसद ने भारत में पहले चौंबर ऑफ कॉमर्स की स्थापना ईस्ट इंडियन कंपनी केबाह्य व्यापारिक अधिकारों को समाप्त किए जाने के बाद, 1834 में कलकत्ता में की थी। इसके बाद 1835 और 1836 में क्रमशः मद्रास और बॉम्बे चैंबर्स ऑफ कॉमर्स का गठन हुआ था।

ये चैंबर यूरोपीय व्यापारियों के थे। इनका गठन मुक्त व्यापार की नई नीति के तहत उनके व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए किया गया था। अंग्रेजों से पृथक, भारतीय व्यापारियों का पहला चैंबर 1885 में आंध्र प्रदेश के काकीनाडा में बनाया गया था, जो उस वक्त मद्रास प्रेसीडेंसी का एक हिस्सा हुआ करता था। इस चैंबर का नाम नेटिव मर्चेंट चैंबर रखा गया। इसके बाद 1887 में बीएनसीसीआई का गठन हुआ। इसके संविधान का मसौदा ए. ओ. ह्यूम ने तैयार किया था और इसमें संशोधन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने किया था। इसके बादकई अन्य चैंबरों का गठन किया गया जैसे कि 1909 में एसआईसीसीआई, और 1934 में आंध्र चैंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (एसीसीआई) आदि।

इन क्षेत्रीय चैंबरों का उद्देश्य "*क्षेत्रों में वाणिज्यिक उद्यम के विकास में सहायता करना और उन्हें प्रोत्साहन देना और उससे जुड़े व्यापारियों के वाणिज्यिक हितों की रक्षा करना था... उदाहरण के लिए, बीएनसीसीआई काये दृष्टिकोण शुरू से ही था कि... चैंबर को हमेशा बंगाल के आर्थिक विकास में रुचि रखने वाले के तौर पर देखा जाए। लेकिन ये अयोग्य सदस्यता के माध्यम से संभव नहीं हो सकता था क्योंकि बंगाल के बाहर जिन व्यवासायियों के अपने प्रमुख केंद्र थे, वे इस प्रांत के विकास और आर्थिक कल्याण के लिए न ही ध्यान केंद्रित कर सकते थे और न ही उसमें उत्साह दिखा सकते थे। यही इसके दायरे की सीमा है जो इस राज्य के[1] दृष्टिकोण से चैंबर को एक विशिष्ट शक्ति प्रदान करती है।*"

इन चैंबरों के गठन से 1905 से भारतीय औद्योगिक सम्मेलन (आईआईसी) के वार्षिक सत्र की शुरुआत हुई। ये सत्र भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

के वार्षिक सत्रों के साथ आयोजित किए गए। आईआईसी ने 1915 तक अपने सत्र आयोजित करता रहा। कांग्रेस ने 1916 में, लखनऊ में, सैद्धांतिक रूप से संघीय राजनीति की नीति को स्वीकार किया; और 1920 में उसने सैद्धांतिक रूप से, भाषाई क्षेत्रों का गठन करने के लिए संघीय इकाइयों के गठन को स्वीकार किया। इसके परिणामस्वरूप, 1921 में मद्रास, बिहार और उड़ीसा विधान परिषदों ने भी इस सिद्धांत को अपना लिया। 1927 में, भारत सरकार और भारतीय कार्यालयों में उड़िया, कन्नड़, आंध्र, तमिल, बंगाली और झारखंड प्रांतों के गठन के लिए ज्ञापनों की बाढ़ सी आ गई। दोनों कार्यालयों से इन ज्ञापनों को साइमन कमीशन को भेजने का अनुरोध किया गया था, जिसे भारतीय राजनीति के भविष्य के स्वरूप का सुझाव देने के लिए बनाया गया था। इसके बाद, अलग आंध्र, तमिल और कन्नड़ प्रांतों के गठन के लिए केंद्रीय विधानमंडलों में प्रस्ताव पेश किए गए। और अलग आंध्र प्रांत के गठन का आग्रह करने वाला एक प्रस्ताव मद्रास विधान परिषद[2]में पारित हुआ।

कांग्रेस ने 1942 के, भारत छोड़ो प्रस्ताव में, 'संघीय इकाइयों[3] को स्वायत्तता देने का काफी हद तक का वादा किया; और 1946 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) ने 'विभिन्न भारतीयों[4] की राष्ट्रीय मातृभूमि पर आधारित सत्रह संप्रभु राष्ट्रीय संविधान सभाओं' का प्रस्ताव रखा और 'राष्ट्र-राज्यों के स्वैच्छिक संघ' का समर्थन किया था। कांग्रेस ने भी 'विलय को तैयार अपने विभिन्न भागों' के आधार पर एक संघ का वादा किया था, जिसके भागों का गठन स्वयं भाषा और संस्कृति[5] की आवश्यक एकरूपता पर होना था।

व्यावसायिक नीतियों पर उनके विचार जानने के लिए प्रांतीय और संघीय सरकारों ने बिजनेस चैंबरों से परामर्श किया। उन्हें अपने सामूहिक और व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए अपने प्रतिनिधियों को विधायी निकायों में भेजने का संवैधानिक अधिकार दिया गया था।भारत सरकार की औद्योगिक नीति में 1905 के बाद बदलाव आया। इन नीतियों ने प्रांतीय सरकारों के माध्यम से हथकरघा, बुनाई और चमड़ा प्रसंस्करण जैसे क्षेत्रों में देशी व्यवसायों को 'सहायता और मार्गदर्शन' देना शुरू कर दिया था। मद्रास सरकार ने, विशेष रूप से, इस नई नीति के अनुप्रयोग को बहुत प्रोत्साहन दिया। बदले में, इन चैंबरों ने सरकार से अपने लिए अनुकूल व्यावसायिक नीतियों की माँग की थी।

दशकों से, इन क्षेत्रीय बिजनेस चैंबरों ने व्यापार और औद्योगिक नीतियों के निर्माण में पर्याप्त व्यावसायिक स्वतंत्रता और क्षेत्रीय व्यापार के प्रभाव का आनंद उठाया था। इन बिजनेस चैंबरों के पास उन घटनाक्रमों की अंदरूनी जानकारी होती थी जिनकी चर्चा स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था में होती थी। उदाहरण के लिए, बीएनसीसीआई को 1904 में ही बंगाल विभाजन के प्रस्ताव की जानकारी थी यानी 1905 में, वास्तविक विभाजन के अधिनियमित होने से एक साल पहले ही। ये क्षेत्रीय चैंबर एक बार जब क्षेत्रीय व्यापार नीतियों और बाजार प्रभुत्व का आनंद लेने लगे, तो उन्होंने फेडरेशन के बढ़ते विरोध के बावजूद 'धरती पुत्रों' को लाभ पहुँचाने के लिए स्थानीय स्तर पर तैयार की गई औद्योगिक और व्यापार योजना को बनाए रखने पर जोर देना शुरू कर दिया। देश में बड़े कारोबारीयों के सामूहिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग मंडल (फिक्की) जिसका खुद का जन्म 1927 में क्षेत्रीय बिजनेस चैंबरों से हुआ था, अब क्षेत्रीय बाजार में क्षेत्रीय चैंबरों की प्रमुख भूमिकाओं के खिलाफ था।

फिक्की ने उद्योगों के क्षेत्रीयकरण के सिद्धांत का विरोध किया और आग्रह किया कि देश के प्रत्येक व्यावसायिक उद्यम को उनके विकास के लिए सबसे मुफीद स्थानों पर उद्योग स्थापित करने की पूर्ण स्वतंत्रता और सुविधाएँ दी जानी चाहिए। उसने इस बात पर खेद प्रकट किया कि जब भी मद्रास प्रेसीडेंसी में कोई उद्योग स्थापित करने का प्रस्ताव आता है, तो उसे इस आधार पर खारिज कर दिया जाता है कि उस उद्योग की स्थापना को प्रायोजित करने वाली कंपनी उस प्रेसीडेंसी से संबंधित नहीं है। इसने शिकायत की कि क्षेत्रीय विकास की वर्तमान नीति केवल एक विशेष प्रांत में[6] पैदा होने वाली कंपनियों के व्यक्तियों के लिए एकाधिकार को बढ़ावा देती है।

1945 में, फिक्की द्वारा औद्योगिक नीति के 'क्षेत्रीयकरण' की निरंतर आलोचना के परिणामस्वरूप, जिसका नेतृत्व जी.डी. बिड़ला और पी. ठाकुर दास ने किया था, जिन्होंने इसके गठन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, 1945 में औपनिवेशिक सरकार ने एक प्रमुख नीतिगत बदलाव किया। उसने बीस प्रमुख उद्योगों को प्रांतीय सरकार के दायरे से हटाकर संघीय सरकार में स्थानांतरित कर दिया। इन सबके बाद भी, जब 1946 में सत्ता हस्तांतरण के लिए कैबिनेट मिशन भारत आया, तो फिक्की को डर था कि क्षेत्रीय बिजनेस चैंबरों के दबाव में, उद्योगों पर प्रभुत्व वापस प्रांतीय सरकारों के पास जा सकता है। फिक्की को आशंका थी कि कैबिनेट मिशन योजना के तहत, जो संघवाद की अवधारणा पर आधारित थी, जिसमें संघीय इकाइयों को ज्यादा ताकत और केंद्र के लिए कम ताकत की परिकल्पना की गई थी, वो प्रांत से संबंधित सभी मामलों पर स्वायत्तता से जुड़ा एक बड़ा प्रयोग करेंगे। इस प्रकार व्यापार और वाणिज्य के लगभग सभी पहलू विशेष तौर पर

1945 में, फिक्की द्वारा औद्योगिक नीति के 'क्षेत्रीयकरण' की निरंतर आलोचना के परिणामस्वरूप, जिसका नेतृत्व जी.डी. बिड़ला और पी. ठाकुर दास ने किया था, जिन्होंने इसके गठन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, 1945 में औपनिवेशिक सरकार ने एक प्रमुख नीतिगत बदलाव किया। उसने बीस प्रमुख उद्योगों को प्रांतीय सरकार के दायरे से हटाकर संघीय सरकार में स्थानांतरित कर दिया। इन सबके बाद भी, जब 1946 में सत्ता हस्तांतरण के लिए कैबिनेट मिशन भारत आया, तो फिक्की को डर था कि क्षेत्रीय बिजनेस चैंबरों के दबाव में, उद्योगों पर प्रभुत्व वापस प्रांतीय सरकारों के पास जा सकता है

बिजनेस चैंबरों के ये टकराव - क्षेत्रीय बनाम फिक्की - भाषाई प्रांतीय माँग पर कांग्रेस के बदलते राजनैतिक रुख में नजर आ रहे थे। हालाँकि, आजादी से पहले, कांग्रेस भाषाई प्रांतों के विचार पर सहमत थी, लेकिन सत्ता में आने के बाद उसने अपनी माँग बदल दी। कांग्रेस नेतृत्व अब अपने स्वीकृत सिद्धांत को लागू करने के प्रति उदासीन था

प्रांतीय क्षेत्र[7] से जुड़े होंगे। इसने केंद्र सरकार से संविधान अधिनियमों में विशेष प्रावधानों को शामिल करने का निवेदन किया... ताकि यह प्रावधान किया जा सके कि किसी भी इकाई, प्रांत या राज्य के पास किसी भी प्रकार के विवरण, किसी भी सामान को एक इकाई या प्रांत से दूसरे में आयात या निर्यात को प्रतिबंधित करने या उसके लिए कानून पारित करने या कोई भी कार्यकारी कार्रवाई करने का अधिकार नहीं होगा। उसने यह भी कहा कि इसी प्रकार यह भी निर्धारित किया जाना चाहिए कि कोई भी इकाई या प्रांत ऐसा कोई कर, उपकर, टोल या देय अधिरोपित करने का हकदार नहीं होगा, जो किसी एक प्रांत या इकाई में निर्मित या उत्पादित वस्तुओं और पूर्व की तरह[8] निर्मित और उत्पादित नहीं की गई समान वस्तुओं के बीच भेदभाव करता हो। जब संविधान सभा का गठन हुआ, तो बड़े उद्योगपतियों ने विभिन्न संवैधानिक समितियों और उप-समितियों के माध्यम से अधिक संख्या में उद्योग-व्यापार क्षेत्रों को केंद्र सरकार के दायरे में लाने की पैरवी की; और इसकी भूमिका में, इसे राजनैतिक नेतृत्व का पूरी तरह से समर्थन प्राप्त था। इसे नेहरू ने सबसे अच्छी तरह से व्यक्त किया था, जिन्होंने कहा था कि प्रांतवाद इस मोड़ पर देश के लिए सबसे बड़ा खतरा है। "इससे भी खतरनाक चीज प्रांतवाद की नजर आ रही है। हर सूबे के लोग अपनी-अपनी अलग नीति बनाएँ और नए रोड़े पैदा करें ... यह सब ठीक नहीं हैं।[9] यह फिक्की के जवाब में था जो बार-बार नेहरू से माँग कर रहा था कि 'व्यापार और वाणिज्य के उद्देश्य से भारत को भौगोलिक रूप से एक इकाई के रूप में माना जाना चाहिए और अंतरप्रांतीय और राजकीय बाधाएँ और प्रशासनिक प्रतिबंधों को तुरंत समाप्त कर देना चाहिए।'[10] इसके पीछे फिक्की का तर्क था कि "ऐसी इकाइयों की स्थापना से देश के आर्थिक विकास[11] से संबंधित समान नीतियों को लागू करने में सुविधा होगी"। ऐसा माना गया कि "प्रांतों और भारतीय राज्य के बीच श्रम कानूनों या कराधान या ऐसे अन्य मामलों में अब कोई भी विरोधाभासी नीतियाँ नहीं होंगी"। राज्यों का विलय जितना अधिक होगा, उतना ही वे भारत संघ[12] के साथ एकीकृत होंगे। उसकी यह माँग कैबिनेट मिशन योजना के 16 मई, 1946 के राज्य पत्र के खिलाफ थी, जिसमें केंद्र को आवंटित किए जाने वाले केवल तीन विषयों, रक्षा, विदेश मामले और संचार की परिकल्पना की गई थी। फिक्की अंतत: राज्य सूची में पहले से सूचीबद्ध वस्तुओं सहित प्रमुख उद्योगों को केंद्र के दायरे में लाने के अपने मिशन में सफल रही। इसने बाकी शक्तियों को भी केंद्र के दायरे में ला दिया। भारतीय संघ में रियासतों के विलय और प्रशासनिक इकाइयों में उनके तर्कसंगत पुनर्गठन के साथ, बड़े भारतीय व्यवसायों ने अपने नियंत्रण में एक निर्बाध बाजार को विकसित किया, जो अब तक वंचित था। संविधान सभा ने प्रमुख आंतरिक सीमा शुल्क बाधाओं को दूर करने के लिए बैंकिंग कानूनों, अनुबंध के कानूनों, मध्यस्थता के कानूनों और बैंक-भ्रष्टाचार के व्यापार कानूनों के एक सामान्य कोड की सुविधा प्रदान की। यह पहले के प्रांतीय कानूनों से काफी अलग था जो भारत में सामान्य व्यापार कानूनों को लागू करने में रोड़ा पैदा करता था।

बिजनेस चैंबरों के ये टकराव - क्षेत्रीय बनाम फिक्की - भाषाई प्रांतीय माँग पर कांग्रेस के बदलते राजनैतिक रुख में नजर आ रहे थे। हालाँकि, आजादी से पहले, कांग्रेस भाषाई प्रांतों के विचार पर सहमत थी, लेकिन सत्ता में आने के बाद उसने अपनी माँग बदल दी। कांग्रेस नेतृत्व अब अपने स्वीकृत सिद्धांत को लागू करने के प्रति उदासीन था। तीन अलग-अलग आयोगों का गठन किया गया- एस.के. धर आयोग (1948), जे.वी.पी समिति (1948), और व्यापारिक घरानों की नागरिक समिति। जहाँ धर आयोग का गठन संविधान सभा द्वारा किया गया था, वहीं जेवीपी समिति का गठन कांग्रेस ने धर समिति की सिफारिशों का अध्ययन करने के लिए किया था। न्यायमूर्ति एस.के. धर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश थे। वहीं कांग्रेस अध्यक्ष सहित तीन सदस्यीय जेवीपी समिति का गठन किया गया था। इस समिति में जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और पट्टाभि सीतारमैया बतौर सदस्य शामिल थे, जिनमें से सीतारमैया कांग्रेस के अध्यक्ष थे। नागरिक समिति के गठन में जे.आर.डी. टाटा, एच.पी. मोदी, पी. ठाकुरदास और दो अन्य शामिल थे। इन तीनों अलग-अलग समितियों ने भाषाई प्रांतों की माँग को इस आधार पर खारिज कर दिया कि इसे लागू करने के लिए समय अनुकूल नहीं था। इसने भावी परियोजना के रूप में इस विचार के अनुप्रयोग को स्थगित कर दिया। दोनों समितियों, अर्थात् धर समिति रिपोर्ट और जेवीपी समिति रिपोर्ट ने 1948-49 में भाषाई राज्यों की माँग को अस्वीकार करने के कारणों को बताया। धर समिति को "वित्तीय, आर्थिक, प्रशासनिक और अन्य परिणामों का उपयोग करते हुए" आंध्र, कर्नाटक, केरल और महाराष्ट्र के प्रस्तावित प्रांतों के निर्माण की वांछनीयता का सुझाव देने का काम सौंपा गया था (धर समिति की रिपोर्ट)। संविधान सभा के अध्यक्ष को सौंपी गई रिपोर्ट में सर्वसम्मति से भाषाई प्रांतों की माँग के खिलाफ सिफारिश की गई। लेकिन कांग्रेस के भीतर और बाहर इसकी लगातार मुखर माँग ने कांग्रेस नेतृत्व को रिपोर्ट पर फिर से विचार करने के लिए मजबूर कर दिया। इस पर विचार करने के लिए जेवीपी समिति का गठन किया गया था। इस समिति ने फिर से प्रस्तावित प्रांतों की वांछनीयता के खिलाफ रिपोर्ट दी जिसका धर समिति की रिपोर्ट में उल्लेख मिलता है।

यह आशंका थी कि भाषाई पुनर्गठन भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि में देश को और अस्थिर कर देगा। सरदार पटेल ने महसूस किया था कि "भाषाई प्रांत देश के लिए कई आपदाओं की वजह बनेंगे और यह भानुमती का पिटारा[13] खुलने जैसा होगा"

भारतीय संघ में विलय के बाद रियासतों के प्रशासनिक ढांचे के पुनर्गठन के पटेल के कार्य की फिक्की ने बहुत सराहना की। यह... देश के लिए बहुत संतोष की बात है कि (विभिन्न) व्यस्तताओं के बीच... राष्ट्रीय सरकार (प्रशासनिक पुनर्गठन) के अपने प्रयासों में सफल रहा। यह महसूस किया गया कि भाषाई प्रांत संकीर्णतावाद - धरती पुत्र की भावना - को बढ़ावा देंगे जो राष्ट्रीय एकीकरण प्रक्रिया की गति को धीमा कर सकता है। इससे नागरिकों पर कर का भारी बोझ भी पड़ सकता है, कई छोटे भाषाई राज्य, लंबे समय में, अपनी इकाइयों को चलाने में आर्थिक रूप से सक्षम नहीं हो पाएंगे और अंततः वित्तीय सहायता के लिए[14] केंद्र पर निर्भर रहेंगे। दिसंबर 1947 से अप्रैल 1949 तक, दो साल से भी कम समय में, सरदार पटेल ने अपनी मृत्यु से पहले, पूरे भारत को प्रशासनिक इकाइयों की चार श्रेणियों में पुनर्गठित किया था। उनका यह कदम फिक्की के लिए किसी सपने के सच होने जैसा था।

कांग्रेस के प्रांतीय नेतृत्व, जिनकी गिनती राष्ट्रीय स्तर पर नहीं होती थी, उसे कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व पर जन आंदोलन पैदा करने के लिए कैडरों और जनता पर पड़ रहे बड़े दबाव में एक अवसर नजर आया। भाषाई सिद्धांतों के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन उन्हें क्षेत्रीय-राष्ट्रीय गणना का अवसर प्रदान करता था। वी.पी. मेनन ने इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए 1949 में कांग्रेस के स्थानीय तमिल-मलयाली नेताओं को भाषाई राज्यों का मुद्दा न उठाने की चेतावनी दी थी। "अर्थव्यवस्था और ऐतिहासिक संबंधों[15] को भूलकर भाषाई तर्कों को देना गलत था..." जेवीपी ने महसूस किया था कि विभिन्न क्षेत्रों में भाषाई राज्यों के लिए प्रांतीय कांग्रेस नेतृत्व की माँग 'अनुच्छेद एक' थी और उनकी ये माँग 'सत्ता हासिल करने[16] की इच्छा रखने वाली पार्टियों द्वारा समर्थित' थी। हालाँकि, कुछ गांधीवादी नेता थे जिन्होंने ये महसूस किया कि भाषाई प्रांत आर्थिक-सामाजिक समस्याओं को कुशलता पूर्वक और लोकतांत्रिक तरीके से हल करने में सक्षम होंगे। उन्होंने इस बात को समझा कि आम नागरिकों को शासन, रोजगार और आर्थिक विकास की जरूरत है। हालाँकि, यह भी माना गया कि भाषाई प्रांत अपनी मौजूदा समस्याओं का समाधान कर लेंगे।

क्षेत्रीय व्यापार वाणिज्य मंडल (बिजनेस चैंबर्स ऑफ कॉमर्स) ने 1905 से 1945 तक अभूतपूर्व वित्तीय स्वायत्तता का आनंद उठाया था। यह वही वक्त था जब औपनिवेशिक प्रशासन ने बीस प्रमुख उद्योगों को प्रांतीय सरकारों के दायरे से हटाकर संघीय सरकार में स्थानांतरित कर दिया था। इसी क्षेत्रीय व्यापार वाणिज्य मंडल ने भाषाई राज्य की इस माँग का समर्थन किया, और अपनी खोई हुई स्वायत्तता को फिर से हासिल करने के लिए ऐसा करना जारी रखा। पटेल भाषाई प्रांतों के विचार का स्वागत करते थे, यदि वे क्षेत्रों और भारतीय राज्य की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करतेतो। लेकिन वह भाषाई राज्य की माँग, स्थानीय व्यापार और राजनैतिक लोभ को देख पाने में समर्थ थे जिसमें नागरिकों को तोप के चारे के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा था। इसलिए उन्होंने इसके आवेदन को भविष्य के लिए टाल दिया था। उन्हें बहुत पहले ही महसूस हो गया था कि सत्ता की चाह में स्थानीय राजनेता इस माँग को हवा देंगे। इसलिए मेनन ने प्रांतीय कांग्रेस नेताओं को भाषाई राज्यों का मुद्दा[17] न उठाने का निर्देश दिया था।

भाषाई राज्यों की माँग को नई उभरती सामाजिक ताकतों से बल मिला, जो उपनिवेशवाद विरोधी लामबंदी, द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों और स्वतंत्रता के कारण सामने आई थीं। नए राज्यों के निर्माण के साथ राजनैतिक-प्रशासनिक अवसरों ने समाज के शहरी-ग्रामीण उन्नतिशील क्षेत्रों को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया, जो पुराने शासक अभिजात वर्ग और विदेशी औपनिवेशिक प्रशासन के अधीन थे। भाषाई प्रांतों ने उन्हें 'आगमन का क्षण' और 'सत्ता पर विजय' का अवसर प्रदान किया। नगर पालिकाओं और पंचायतों से लेकर विधानसभाओं और पार्टियों के विभिन्न स्तरों के संगठनों का व्यावसायिक और राजनैतिक नेतृत्व, नए उच्च राजनैतिक-प्रशासनिक अधि भोगों और व्यावसायिक अवसरों की उम्मीद कर रहा था। 1946 के चुनाव और चुनावों के बाद के प्रशासनिक-राजनैतिक रिक्तियों और विभाजन ने बड़े पैमाने पर अभूतपूर्व अवसर प्रदान किए। भाषाई आधार पर राज्यों के गठन के बाद के विकास से इसका पता चलता है।

इतिहास की विडंबना भी दिलचस्प है। कांग्रेस द्वारा भाषाई प्रांतों के सिद्धांत को स्वीकार करने के लगभग सौ साल बाद, उसी कांग्रेस ने आंध्र प्रदेश में इस सिद्धांत को दफन कर दिया, जिसे उसने आजादी के बाद जन आंदोलन के तहत, पहले भाषाई प्रांत के रूप में बनाया था। इसने 2014 में, एक और नया प्रांत तेलंगाना राज्य बनाने के लिए इसे तोड़ दिया। इससे पहले, इसने जातीयता के सिद्धांत के आधार पर उत्तर-पूर्व में कई नए राज्य बनाए। कांग्रेस नियमों और व्यावसायिक कानूनों की बेहतर एकरूपता के लिए अपनी संघीय इकाइयों के लिए राष्ट्रीय समरूपीकरण और प्रशासनिक पुनर्गठन के पक्ष में थी।

संदर्भ-

1. सुनीति कुमार घोष, भारत की राष्ट्रीयता समस्या और शासक वर्ग, कलकत्ता, 1996, पृ. 23.
2. पूर्वोक्त, पृ. 17.
3. पूर्वोक्त, पृ. 23.
4. पूर्वोक्त, पृ. में उद्धृत। 18.
5. पूर्वोक्त, पृ. 14, 16.
6. पूर्वोक्त., पृ. 20-21.
7. कार्यवाही, फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री, वॉल्यूम, तृतीय, 1947, पृ. 86.
8. पूर्वोक्त
9. पूर्वोक्त, पृ. 29.
10. पूर्वोक्त., वॉल्यूम. तृतीय, 1947, पृ. 86.
11. पूर्वोक्त, पृ. 14.
12. पूर्वोक्त
13. विद्या शंकर, माई रिमिनिसेंसेस ऑफ सरदार पटेल, खंड. 2, मैकमिलन, दिल्ली, 1974, पृ. 73.
14. कार्यवाही, फेडरेशन ऑफ इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री, खंड 3, यथा उद्धृत, पृ. 14
15. वी. पी. मेनन, भारतीय राज्यों का एकीकरण, ओरिएंट ब्लैक स्वान, दिल्ली, 2014, पृ. 251
16. ए. जी. नूरानी, फ्रंटलाइन, ...8.02.
17. वी. पी. मेनन, यथा उद्धृत, पृ. 251

डॉ. चंद्रपाल सिंह

विधायन ने भारत में ब्रिटिश शासन को मजबूत किया

ब्रिटिश भारत में विधायन का उद्देश्य हमेशा औपनिवेशिक शासन को मजबूत करना था। ऐतिहासिक घटनाक्रम पर एक दृष्टि

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत के कुछ हिस्सों पर ईस्ट इंडिया कंपनी (ईआईसी) के शासन की स्थापना के साथ, अंग्रेजों को अपने प्रशासन को सुचारु बनाने और बाद में अपने साम्राज्य को बनाए रखने के लिए भारत में अल्पविकसित विधायी, न्यायिक और कार्यकारी निकाय शुरू करने के लिए विवश होना पड़ा। भारत में विधायिका द्वारा विधायन या कानून बनाना भारत में विधायी निकायों के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे विकसित हुआ, जो स्वयं बदलती ऐतिहासिक परिस्थितियों का एक सुफल था और भारत और ब्रिटेन में सत्तारूढ़ व्यवस्था की बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिए था। वर्तमान विधायिका और विधायन उस प्रक्रिया की परिणति है जो अठारहवीं शताब्दी में शुरू हुई थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वर्तमान विधायी प्रक्रिया में स्वदेशी कानून निर्माण प्रथाओं का कोई निशान नहीं है। यह लेख, यह तर्क देते हुए कि ब्रिटिश भारत में विधायन भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की नींव को मजबूत करने का एक स्थल था, दोतरफा दृष्टिकोण अपनाता है। एक ओर यह ब्रिटिश भारत में विधायिका के विकास को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है; दूसरे, यह इस बात पर प्रकाश डालने का प्रयास करेगा कि कैसे इस विधायन ने 1857 तक पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति की, और उसके बाद बढ़ती राष्ट्रवादी चेतना और स्वतंत्रता संग्राम का मुकाबला करने के लिए ब्रिटिश क्राउन और ब्रिटिश संसद की सेवा की। साथ ही, विधायी निकायों में भारतीय तत्त्व की निरंतर वृद्धि ने स्वतंत्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, लेकिन यह इस शोधपत्र के दायरे से बाहर है।

ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के लिए 1600 में जारी रॉयल चार्टर ने इस शर्त के साथ 'विधायी चरित्र की कुछ सीमित शक्तियाँ स्वीकार कीं' कि ये कानून अंग्रेजी कानूनों और हितों के विपरीत या प्रतिकूल नहीं होने चाहिए।[1] यद्यपि शुरुआत में ईस्ट इंडिया कंपनी एक विशुद्ध समुद्री वाणिज्यिक उद्यम था, लेकिन इसका चार्टर ब्रिटिश क्राउन द्वारा जारी किया गया था। बाद के चार्टरों ने कंपनी की विधायी शक्तियों का विस्तार किया। प्लासी (1757) और बक्सर (1764) की लड़ाई के बाद, कंपनी ने बंगाल पर नियंत्रण करना शुरू कर दिया और एक राजनैतिक शक्ति बन गई। कंपनी के अधिकारियों के क्षेत्र, राजस्व और अविश्वसनीय संपत्ति ने ब्रिटेन में विस्मयकारी भय पैदा किया, जिसके परिणामस्वरूप 1774 का रेगुलेटिंग ऐक्ट लागू हुआ, जिसमें पहली बार नागरिक, सैन्य और राजस्व मामलों पर संसदीय नियंत्रण को मान्यता दी गई। इस प्रकार, ब्रिटेन ने ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से भारत को नियंत्रित करना शुरू कर दिया। विधायी शक्तियाँ गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद में निहित थीं लेकिन वे ऐसा कोई कानून नहीं बना सकते थे जिससे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सहमत न हों। 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट ने मौजूदा निदेशक मंडल के ऊपर बोर्ड ऑफ कंट्रोल नामक एक नया निकाय स्थापित करके क्राउन द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्णय लेने को और सीमित कर दिया।

जैसा कि हम आगे देखेंगे, ब्रिटेन के हितों ने भारत में शुरू की गई नीतियों को निर्धारित किया और इस प्रक्रिया में कानून का उपयोग एक माध्यम के रूप में किया गया। इस संदर्भ में, 1813 का

चार्टर अधिनियम बहुत ही उदाहरणात्मक है। औद्योगिक क्रांति के लाभार्थियों के रूप में भारत को ब्रिटिश पूँजीपतियों के लिए खोलने के लिए, इस अधिनियम ने कंपनी को भारत के साथ व्यापार पर उसके एकाधिकार से वंचित कर दिया। 1813 अधिनियम ने ईसाई मिशनरियों को भारत में प्रवेश करने और अपना धर्मांतरण मिशन शुरू करने की अनुमति देकर भारत की सांस्कृतिक विजय की प्रक्रिया भी शुरू की। इस अधिनियम ने मूल निवासियों की शिक्षा को नियंत्रित करने के लिए भी आधार तैयार किया, जिसकी परिणति 1835 के मैकाले के मिनट के रूप में हुई। बंगाल के गवर्नर-जनरल को भारत का गवर्नर-जनरल बनाया गया जिसे अपनी परिषद के साथ भारत में संपूर्ण ब्रिटिश क्षेत्रों के लिए कानून बनाने का दायिव मिल गया।

केंद्रीकरण की प्रक्रिया, जो रेगुलेटिंग एक्ट के साथ शुरू हुई, 1833 में अपनी चरम सीमा पर तब पहुँच गई जब 1833 का चार्टर एक्ट पारित किया गया और जिसने बॉम्बे और मद्रास के राज्यपालों की विधायी शक्तियों को समाप्त कर दिया।[2] अब सभी कानून कलकत्ता में गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद द्वारा बनाए जाने लगे। अधिनियम में गवर्नर-जनरल की परिषद के कार्यकारी और विधायी कार्यों को अलग करने का भी प्रावधान किया गया। उनकी परिषद में एक विधि सदस्य जोड़ा गया और कानून बनाने के लिए एक विधि आयोग की स्थापना की गई।[3] कोई और नहीं बल्कि लॉर्ड थॉमस बबिंगटन मैकाले पहले विधि सदस्य थे और उन्होंने ही पहले विधि आयोग का नेतृत्व भी किया, जिसने वह दंड संहिता तैयार की थी जो अब तक अस्तित्व में है।

केंद्रीकरण की प्रतिक्रिया 1853 के चार्टर अधिनियम के रूप में हुई, जो अंतिम चार्टर अधिनियम था, जिसमें प्रत्येक प्रांतीय सरकार कलकत्ता में गवर्नर-जनरल की परिषद में एक सदस्य भेजती थी। यह भारतीय विधायिका में स्थानीय प्रतिनिधित्व के सिद्धांत की पहली मान्यता थी, हालाँकि सभी प्रतिनिधि ब्रिटिश अधिकारी थे।[4] फिर भी, परिषद ने मुक्त मौखिक चर्चा, प्रवर समितियों द्वारा विधेयकों की जाँच जैसी संसदीय प्रथाओं को अपनाया और कभी-कभी सरकार विरोधी रुख भी अपनाया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ब्रिटिश अधिकारियों का एक वर्ग परिषद पर 'छोटी संसद' की तरह व्यवहार करने का आरोप लगाने लगा। इन घटनाक्रमों ने 1853 के चार्टर अधिनियम के निर्माता चार्ल्स वुड जैसे साम्राज्यवादियों को परेशान कर दिया। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वह कभी भी भारत में एक ऐसा निकाय बनाना नहीं चाहते जो 'खुद को सरकार से स्वतंत्र निकाय के रूप में स्थापित कर सके।'[5] उन्हें डर था कि यह भारत में कानून की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के अधिकार की अवहेलना होगी।

1853 के चार्टर अधिनियम के लागू होने के चार वर्षों के भीतर, ब्रिटिश अधिकारियों को 1857 के विद्रोह के रूप में एक शक्तिशाली तूफान का सामना करना पड़ा जिसने ब्रिटिश साम्राज्य को लगभग उखाड़ फेंका था। इसके बाद की सभी ब्रिटिश नीतियों का उद्देश्य 1857 जैसे एक और विद्रोह को रोकना था। 1857 के विद्रोह ने भारतीयों को भारत में कानून बनाने की प्रक्रिया से जोड़ने की आवश्यकता को रेखांकित किया क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों और सैयद अहमद खान जैसे सहानुभूतिशील मूल निवासियों ने केवल आधिकारिक राय की सहायता से एक बड़ी और विविध भूमि पर शासन करने की निरर्थकता पर जोर दिया। सर बार्टले फ्रेरे[6] ने कहा कि "जब तक आपके पास एक विचार-विमर्श परिषद के आकार में कोई संयुक्त बैरोमीटर और सुरक्षा-वाल्व नहीं हैं, मेरा मानना है कि आप बहुत ही अनदेखे और खतरनाक विस्फोटों के लिए उत्तरदायी होंगे"।[7] चूँकि विद्रोह एक वित्तीय आपदा भी साबित हुआ था, इसलिए ब्रिटिश सरकार कराधान, विशेष रूप से प्रत्यक्ष कराधान को बढ़ाना चाहती थी, जिससे गैर-आधिकारिक एंग्लो-इंडियन क्रोधित थे, और जिन्होंने विधान परिषद में गैर-आधिकारिक प्रतिनिधित्व लागू करने की माँग के लिए 'प्रतिनिधित्व के बिना कोई कर नहीं' का रुदन किया था। विधान परिषद में गैर-आधिकारिक एंग्लो-इंडियनों का मुकाबला करने के लिए भारतीय सदस्यों की आवश्यकता थी।

उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए 1861 का भारतीय परिषद अधिनियम पारित किया गया था। इसने गवर्नर-जनरल को कानून बनाने के उद्देश्य से अपनी परिषद में छह से बारह सदस्यों को नामित करने के लिए अधिकृत किया। उनमें से आधे गैर-आधिकारिक सदस्य थे और इनमें से भी कुछ गैर-आधिकारिक सदस्य भारतीय थे। इसलिए, इस अधिनियम ने कानून बनाने की प्रक्रिया में भारतीयों के प्रवेश को चिह्नित किया। अतिरिक्त सदस्यों को भारतीय समाज के सामंती वर्गों से सिद्ध निष्ठा के साथ सावधानीपूर्वक चुना गया था, लेकिन उनकी भूमिका और स्थिति सलाहकारी थी। 1862-1888 की अवधि के दौरान शाही विधान परिषद में कुल 36 भारतीय सदस्यों में से 23 भूमिधारक थे और 6 शासन करने वाले रजवाड़े थे।[8] निर्वाचन क्षेत्रों के गठन के किसी भी विचार को सिरे से खारिज कर दिया गया, और बढ़ते शिक्षित राष्ट्रवादी वर्गों के प्रतिनिधित्व के दावों को तुरंत अस्वीकार कर दिया गया। परिषद द्वारा बनाए गए कानून वास्तव में सरकार के

1853 के चार्टर अधिनियम के लागू होने के चार वर्षों के भीतर, ब्रिटिश अधिकारियों को 1857 के विद्रोह के रूप में एक शक्तिशाली तूफान का सामना करना पड़ा जिसने ब्रिटिश साम्राज्य को लगभग उखाड़ फेंका था। इसके बाद की सभी ब्रिटिश नीतियों का उद्देश्य 1857 जैसे एक और विद्रोह को रोकना था। 1857 के विद्रोह ने भारतीयों को भारत में कानून बनाने की प्रक्रिया से जोड़ने की आवश्यकता को रेखांकित किया क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों और सैयद अहमद खान जैसे सहानुभूतिशील मूल निवासियों ने केवल आधिकारिक राय की सहायता से एक बड़ी और विविध भूमि पर शासन करने की निरर्थकता पर जोर दिया

आदेश थे और परिषद कानून बनाने के उद्देश्य से एक समिति थी। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसी को भी भारत के लिए प्रतिनिधि परिषद या जिम्मेदार सरकार जैसे किसी विचार के मुगालते मे नहीं रहना चाहिए। वुड की राय थी कि "ऐसी स्थिति के लिए एकमात्र उपयुक्त सरकार (मौजूदा) भारत में... निरंकुश हो जिसे घर से नियंत्रित किया जाता।"[9]

1870 और 1880 के दशक में आधुनिक आधार पर भारतीयों में बढ़ती राष्ट्रीय चेतना राजनैतिक संघों, और सबसे उल्लेखनीय रूप से दिसंबर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आईएनसी) के जन्म के रूप में देखी गई। भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति ब्रिटिश प्रतिक्रिया दोतरफा थी। जॉन स्ट्रेची जैसे कट्टर साम्राज्यवादियों ने यह मानने से इनकार कर दिया कि भारत अपनी विशाल विविधता के कारण एक राष्ट्र या निर्माणाधीन राष्ट्र था, जबकि लॉर्ड रिपन जैसे उदार ब्रिटिश वायसराय ने भारतीय लोगों को ब्रिटिश परोपकारिता से अवगत कराने और उनकी इच्छाओं को जानने के लिए अतिरिक्त चैनल तैयार करने की कोशिश की। लॉर्ड रिपन ने शिक्षित भारतीयों को प्रशासन और कानून में शामिल करने के लिए कुछ प्रयास किए। 1883 में, विधायी कार्य के नियमों में इस प्रकार संशोधन किया गया कि प्रत्येक विधेयक को पेश करने के प्रस्ताव के तुरंत बाद उसके प्रकाशन का प्रावधान किया गया ताकि लोग चाहें तो अपनी राय व्यक्त कर सकें।[10] लेकिन भारतीय राष्ट्रवादी इन आधे-अधूरे उपायों से संतुष्ट नहीं थे। अपने पहले ही सत्र में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें निर्वाचित सदस्यों को प्रवेश देकर और उनके कार्यों को बढ़ाकर विधान परिषदों के विस्तार की माँग की गई। ये माँगें साल दर साल दोहराई गईं।

वायसराय लॉर्ड डफरिन के नेतृत्व में आईएनसी की माँगों पर ब्रिटिश प्रतिक्रिया ने एक ओर कांग्रेसियों को 'सूक्ष्म अल्पसंख्यक' कहकर खारिज कर दिया। लेकिन दूसरी ओर, उनका लक्ष्य शिक्षित भारतीयों और देशी प्रेस के बीच कट्टरपंथियों को अलग करना और उदारवादी नरमपंथियों को समायोजित करना था। डफरिन ने विधान परिषदों की संरचना और कार्यों में बदलाव लाने के लिए कुछ सुझाव दिए जो लैंसडाउन के वायसराय के दौरान भारतीय परिषद अधिनियम 1892 का आधार बने। 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम विधायी उद्देश्यों के लिए परिषद के आकार और कार्यों को बढ़ाकर 1861 के अधिनियम का एक सावधानीपूर्वक किया गया विस्तार था। शाही विधान परिषद के सदस्य परिषद में गवर्नर-जनरल के वार्षिक वित्तीय विवरण पर चर्चा कर सकते थे लेकिन उनके पास इसमें बदलाव करने की शक्ति नहीं थी। वे जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रश्न भी पूछ सकते थे लेकिन पूरक प्रश्नों की अनुमति नहीं थी। अधिनियम ने प्रांतीय परिषदों के गैर-आधिकारिक सदस्यों को गवर्नर-जनरल की परिषद में चार सीटों के लिए सिफारिशें करने की अनुमति दी और नगर पालिकाओं, जिला बोर्डों, वाणिज्य मंडलों और विश्वविद्यालयों को प्रांतीय परिषदों में आठ सीटों के लिए सिफारिशें करने की अनुमति दी। कुल मिलाकर, 1892 के अधिनियम द्वारा परिकल्पित विधायिका भारत में प्रतिनिधि संस्थानों के स्थिर विकास की भारतीय माँग को पूरा करने में विफल रही। लेकिन साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि भारत में ब्रिटिश सरकार ने 1894 से 1904 तक कांग्रेस के नरमपंथियों के बहुमत को संतुष्ट करने का अपना उद्देश्य हासिल कर लिया क्योंकि इस दौरान इस विषय पर कोई प्रस्ताव नहीं लाया गया था।[11]

वायसराय लॉर्ड डफरिन के नेतृत्व में आईएनसी की माँगों पर ब्रिटिश प्रतिक्रिया ने एक ओर कांग्रेसियों को 'सूक्ष्म अल्पसंख्यक' कहकर खारिज कर दिया। लेकिन दूसरी ओर, उनका लक्ष्य शिक्षित भारतीयों और देशी प्रेस के बीच कट्टरपंथियों को अलग करना और उदारवादी नरमपंथियों को समायोजित करना था। डफरिन ने विधान परिषदों की संरचना और कार्यों में बदलाव लाने के लिए कुछ सुझाव दिए जो लैंसडाउन के वायसराय के दौरान भारतीय परिषद अधिनियम 1892 का आधार बने। 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम विधायी उद्देश्यों के लिए परिषद के आकार और कार्यों को बढ़ाकर 1861 के अधिनियम का एक सावधानीपूर्वक किया गया विस्तार था

बीसवीं सदी की शुरुआत में भारत के राजनैतिक माहौल में एक बड़ा बदलाव आया। दिसंबर 1903 में बंगाल विभाजन योजना की घोषणा के बाद विभाजन का जोरदार विरोध हुआ, जो बंगाल में शुरू हुआ लेकिन जल्द ही देश के अन्य हिस्सों में फैल गया। विभाजन विरोधी आंदोलन ने *स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध* की लड़ाई के नारे के साथ स्वदेशी आंदोलन के रूप में तूफान खड़ा कर दिया, जिससे राजनीति में आम लोगों की सक्रिय भागीदारी की शुरुआत हुई। कांग्रेस में लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, बिपिन चंद्र पाल और अरबिंदो घोष जैसे प्रतिष्ठित नेताओं के साथ एक गरमपंथी वर्ग पहले ही उभर चुका था। क्रांतिकारी समूह भी भारत में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके थे। जापान ने रूस को हरा दिया था। सुधार के लिए प्रतिबद्ध एक उदारवादी मंत्रालय ब्रिटेन में सत्ता में आया था। जॉन मॉर्ले भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट थे और लॉर्ड मिंटो वायसराय थे। भारत में नरमपंथी अपना आधार खो रहे थे क्योंकि चरमपंथियों द्वारा प्रतिपादित विराट हिंदू राष्ट्रवाद राजनैतिक रूप से जागरूक भारतीयों के लिए प्रार्थनाओं और याचिकाओं की तुलना में अधिक आकर्षक होता जा रहा था।

इन परिस्थितियों पर औपनिवेशिक प्रतिक्रिया को लॉर्ड मिंटो के शब्दों में संक्षेपित किया जा सकता है: "मैं अधिक से अधिक आश्वस्त हूँ कि भारत में हमें जिस सबसे महत्त्वपूर्ण कारक से निपटना है वह असंभव वस्तुओं के लिए चरमपंथियों द्वारा किया गया आंदोलन नहीं है, बल्कि एक मध्यम शिक्षित वर्ग का निरंतर विकास है जो उत्तरदायित्व और शक्ति में अधिक हिस्सेदारी माँगने के लिए अधिकाधिक

इच्छुक होंगे, मैं उन्हें अपने पक्ष में लाना चाहता हूँ - यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो हम उन्हें दुश्मन के शिविर में धकेल सकते हैं।"[12]

इस स्थिति ने एक नए संवैधानिक सुधार की पहल की माँग की जिसे 1909 में पारित मॉर्ले-मिंटो सुधार के रूप में जाना जाता है। इन सुधारों का उद्देश्य एक ओर नरमपंथियों को एकजुट करना और दूसरी ओर क्रांतिकारी हिंसा और राजद्रोह को कम करना था। इन सुधारों के पीछे मूल आधार यह था कि प्रतिनिधि सरकार भारतीय परिस्थितियों में पूरी तरह से अनुपयुक्त थी; जबकि सर्वोपरि शक्ति और अंतिम निर्णय अभी भी ब्रिटिश हाथों में होगा, निष्कर्षों को आकार देने में भारतीयों की बड़ी हिस्सेदारी होगी; रूढ़िवादी तत्वों यानी राजकुमारों, जमींदारों और मुसलमानों के माध्यम से राष्ट्रवादी झुकाव वाले शिक्षित मध्यम वर्ग के लिए प्रतिकार विकसित करना, और अंत में विधान परिषदों में सीटों की पेशकश करके कांग्रेस के उदारवादी नेतृत्व के साथ सेतु बनाना; लेकिन बदले में उनसे चरमपंथियों पर नियंत्रण रखने के लिए कहें।

मॉर्ले मिंटो सुधारों से केंद्रीय और प्रांतीय दोनों विधान परिषदों में भारतीयों की संख्या में वृद्धि हुई लेकिन यह संख्या अभी भी कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए पर्याप्त नहीं थी। विधान परिषदों को बजट पर चर्चा करने के लिए अधिक समय दिया गया, वे मतविभाजन करवा सकते थे और पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। औपनिवेशिक अधिकारियों ने इस बात को अस्वीकार करने का प्रयत्न किया कि ये विस्तारित परिषदें संसदीय संस्थाओं जैसी किसी भी चीज के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं। बल्कि सरकार ने विधान परिषदों में विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व का प्रतिस्पर्धी तरीके से उपयोग किया। इस अधिनियम ने पहली बार भारत में चुनाव का सिद्धांत पेश किया लेकिन वे, जमींदारों और मुसलमानों के मामले को छोड़कर, अप्रत्यक्ष थे; मतदातामंडल अनिश्चित और गंभीर रूप से प्रतिबंधित था। केंद्रीय विधान परिषद के निर्वाचन क्षेत्र प्रांतीय विधान परिषदें, भूमिधारक, वाणिज्य मंडल और मुस्लिम थे। प्रांतीय

मॉर्ले मिंटो सुधारों से केंद्रीय और प्रांतीय दोनों विधान परिषदों में भारतीयों की संख्या में वृद्धि हुई लेकिन यह संख्या अभी भी कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए पर्याप्त नहीं थी। विधान परिषदों को बजट पर चर्चा करने के लिए अधिक समय दिया गया, वे मतविभाजन करवा सकते थे और पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। औपनिवेशिक अधिकारियों ने इस बात को अस्वीकार करने का प्रयत्न किया कि ये विस्तारित परिषदें संसदीय संस्थाओं जैसी किसी भी चीज के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं। बल्कि सरकार ने विधान परिषदों में विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व का प्रतिस्पर्धी तरीके से उपयोग किया

विधान परिषदों के लिए निर्वाचक नगरपालिका और जिला बोर्ड, भूमिधारक, बागान मालिक, विश्वविद्यालय, मुस्लिम और व्यापारिक समुदाय थे। इन सुधारों ने मुसलमानों को सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र प्रदान किए जिसके परिणामस्वरूप अंततः 1947 में पाकिस्तान का निर्माण हुआ। ब्रिटिश मदद से कुछ समय पहले बनाई गई मुस्लिम लीग का इस्तेमाल मुस्लिम राय का प्रतिनिधित्व करने के लिए किया गया था और मुसलमानों की माँगों को अनुकूल प्रतिक्रिया दी गई थी। पृथक निर्वाचन मंडल भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध 'फूट डालो और राज करो' का एक स्पष्ट उदाहरण था। यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि 1909 के अधिनियम में परिकल्पित चुनाव का मतलब क्षेत्रीय निर्वाचन क्षेत्रों से नहीं बल्कि वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व था।

कांग्रेस ने 1909 के अधिनियम को 1916 तक स्वीकार नहीं किया। मॉर्ले-मिंटो अधिनियम के बाद के दशक में स्वतंत्रता संग्राम एक जन आंदोलन में बदल गया। औपनिवेशिक प्रशासन ने भी फूट डालो और राज करो के नये रूपों के साथ प्रतिक्रिया व्यक्त की। दलितों को मुख्यधारा की कांग्रेस की राजनीति के खिलाफ खड़ा करने के लिए एक नई श्रेणी के रूप में पहचाना गया। 1911 की जनगणना में दलित जातियों के जाति समूहों की स्थिति के बारे में एक प्रश्नावली थी। और केंद्रीय विधान सभा में दलित प्रश्न पर गरमागरम बहस हुई। बाल्कन युद्ध और ब्रिटेन की तुर्की नीति से मुस्लिमों का मोहभंग और प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न संकट जैसी अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं ने नई राजनैतिक गतिशीलता पैदा की। बदली हुई परिस्थितियों में ब्रिटिश राजनेताओं को इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ा कि भारत में ब्रिटिश शासन का लक्ष्य क्या था? भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लॉर्ड मोंटेग को 20 अगस्त 1917 को यह घोषणा करने के लिए मजबूर होना पड़ा कि भारत में ब्रिटिश शासन का लक्ष्य "भारत में जिम्मेदार सरकार की क्रमिक प्राप्ति के दृष्टिकोण से प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों की बढ़ती भागीदारी और स्वशासी संस्थाओं का उत्तरोत्तर विकास था।" लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई समय सीमा नहीं थी।

भारत सरकार अधिनियम, 1919, जो 1921 में लागू हुआ, ने तेजी से फैल रहे स्वतंत्रता संग्राम को नियंत्रित करने और भारत में ब्रिटिश ध्वज को ऊँचा रखने के लिए एक नई व्यवस्था 'द्वैध शासन' तैयार की। जिम्मेदार सरकार के नाम पर, प्रांतीय सरकारों को दो भागों में विभाजित किया गया था: आरक्षित और हस्तांतरित, महत्वपूर्ण और राजस्व उत्पन्न करने वाले विभागों को गवर्नर और उनकी कार्यकारी परिषद के प्रभार में रखा गया था, जबकि हस्तांतरित विषय गवर्नर के प्रभार में थे जो अपने भारतीय मंत्रियों के माध्यम से कार्य करते थे। लगभग 70 प्रतिशत निर्वाचित सदस्यों के साथ प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार किया गया। मताधिकार का विस्तार भी किया गया लेकिन फिर भी संपत्ति और शैक्षणिक योग्यता के कारण 25 करोड़ से अधिक की कुल आबादी में से केवल 10 लाख लोग ही केंद्रीय विधायिका के लिए

मतदान कर सकते थे। पृथक निर्वाचन मंडल का विस्तार सिखों, यूरोपीयों, एंग्लो-इंडियनों और भारतीय ईसाइयों तक किया गया। केंद्रीय विधानमंडल द्विसदनीय हो गया। निचले सदन में 145 सदस्य थे, जिनमें से केवल 52 सामान्य श्रेणी में चुने गए थे, बाकी निहित स्वार्थों, जो या तो अलग निर्वाचन क्षेत्र (52), नामांकित (25) और गैर-सरकारी (16) के माध्यम से चुने गए थे।[13] इस अधिनियम ने गवर्नर-जनरल और प्रांतीय गवर्नरों को ब्रिटिश हितों के खिलाफ समझे जाने वाले किसी भी कानून को वीटो करने की अनुमति देकर ब्रिटिश सरकार के लिए महत्वपूर्ण शक्तियां बनाए रखीं।

1919 के सुधारों को प्रारम्भ से ही कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा जिसमें प्रथम विश्व युद्ध का नकारात्मक आर्थिक प्रभाव जैसे वस्तुओं की कमी और उनकी ऊंची कीमतें, विनाशकारी इन्फ्लूएंजा महामारी, जलियांवाला बाग नरसंहार के बाद बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन, तुर्की पर मुसलमानों के बीच बेचैनी, खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन, क्रांतिकारी गतिविधियों में वृद्धि शामिल है। 1919 के अधिनियम को संशोधित करने की प्रक्रिया 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति, सविनय अवज्ञा आंदोलन, और 1931-32 में गोलमेज सम्मेलन के साथ शुरू हुई। 1935 में यह एक्ट बनकर तैयार हो गया।

प्रांतों में द्वैध शासन को समाप्त कर दिया गया और केंद्र में लागू किया गया।

विधानमंडलों में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था पूना पैक्ट द्वारा संशोधित 'सांप्रदायिक पुरस्कार' के अनुसार की गई थी, जो 'अनुसूचित जातियों' के लिए सीटों के आरक्षण के लिए महात्मा गांधी और बाबासाहेब अंबेडकर के बीच बनी एक समझ थी । लगभग दस प्रतिशत आबादी - लगभग तीन करोड़ लोग - को मताधिकार प्राप्त हुआ। 1935 के अधिनियम में एक संघीय योजना का प्रावधान किया गया जिसमें प्रांत और रियासतें दोनों भाग लेंगे। लेकिन जैसा कि हुआ, आवश्यक संख्या में रियासतें संघ में शामिल नहीं हुई और महासंघ नहीं बन पाया। 1935 के अधिनियम में पहले ही प्रावधान किया गया था कि ऐसी किसी भी स्थिति के लिए भारत सरकार मामूली संशोधनों के साथ काम जारी रखेगी। गवर्नर जनरल को रक्षा, विदेशी मामलों और चर्च संबंधी मामलों के संबंध में विशेष शक्तियाँ दी गईं। इन मामलों पर विधायिका में चर्चा की जा सकती है, लेकिन उनसे निपटने के लिए आपूर्ति पर मतदान नहीं होगा। इसके अलावा, इन मामलों पर गवर्नर-जनरल को विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों द्वारा नहीं, बल्कि केवल उसके प्रति उत्तरदायी 'परामर्शदाताओं' द्वारा सहायता प्रदान की जानी थी।

1935 अधिनियम पर किए गए अध्ययनों से यह स्थापित हुआ है कि यह अधिनियम संवैधानिक सुधार की पिछली किस्तों की तरह परोपकार का कार्य नहीं था, बल्कि बदली हुई परिस्थितियों में भारत पर ब्रिटिश पकड़ बनाए रखने के लिए था। रियासतों सहित प्रस्तावित संघ, राष्ट्रीय एकता को विभाजित करने और कमजोर करने का एक तरीका था। परिग्रहण को स्वैच्छिक बनाकर और राजकुमारों को महत्त्वपूर्ण स्वायत्तता प्रदान करके, ब्रिटिश संभावित रूप से अलग-अलग राज्यों के भीतर प्रभाव बनाए रख सकते थे और एकीकृत भारतीय सरकार के लिए बाधाएँ पैदा कर सकते थे। अधिनियम में ब्रिटिश वाणिज्यिक हितों की रक्षा करने वाले प्रावधान शामिल थे, जैसे भेदभावपूर्ण कराधान पर प्रतिबंध और संपत्ति अधिकारों की गारंटी। इन उपायों ने नाममात्र के स्वशासित भारत के तहत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए निरंतर आर्थिक लाभ सुनिश्चित किया। इस अधिनियम ने ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल और वायसराय के अधिकार के तहत वित्त, रक्षा और प्रांतों के प्रशासन जैसी महत्त्वपूर्ण शक्तियों को करके अंग्रेजों के हाथों में महत्त्वपूर्ण केंद्रीय नियंत्रण बनाए रखा। इससे यह सुनिश्चित हो गया कि अंतिम निर्णय लेने की शक्ति ब्रिटिश हाथों में ही निहित रहेगी। यद्यपि अधिनियम ने प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान की, फिर भी इसने प्रांतीय सरकारों के अधिकार को सीमित करते हुए, केंद्र सरकार के पास कई आवश्यक शक्तियाँ बरकरार रखीं। ब्रिटिश सरकार के पास प्रांतीय विधायिकाओं द्वारा लिए गए निर्णयों में हस्तक्षेप करने और उन्हें पलटने का भी अधिकार था, जिससे उन्हें दी गई स्वायत्तता कम हो गई। 1919 के भारत सरकार अधिनियम के समान, 1935 अधिनियम ने संपत्ति योग्यता के आधार पर एक सीमित मताधिकार बनाए रखा और अलग निर्वाचन मंडल की शुरुआत की। इन प्रावधानों का उद्देश्य भारतीय समाज को धार्मिक और सांप्रदायिक आधार पर विभाजित करना था, जिससे अंग्रेजों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व के माध्यम से विभिन्न समूहों में हेरफेर और नियंत्रण करने की अनुमति मिल सके। इस अधिनियम ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की विभाजनकारी रणनीति को कायम रखते हुए, अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित सीटों की नीति को जारी रखा। धर्म और जाति के आधार पर सीटें आवंटित करके, ब्रिटिश प्रशासन का इरादा भारतीय आबादी के भीतर आंतरिक विभाजन पैदा करना और औपनिवेशिक शासन के खिलाफ एकजुट आवाज को कमजोर करना था। इस अधिनियम में आपातकालीन प्रावधान शामिल

1935 अधिनियम पर किए गए अध्ययनों से यह स्थापित हुआ है कि यह अधिनियम संवैधानिक सुधार की पिछली किस्तों की तरह परोपकार का कार्य नहीं था, बल्कि बदली हुई परिस्थितियों में भारत पर ब्रिटिश पकड़ बनाए रखने के लिए था। रियासतों सहित प्रस्तावित संघ, राष्ट्रीय एकता को विभाजित करने और कमजोर करने का एक तरीका था। परिग्रहण को स्वैच्छिक बनाकर और राजकुमारों को महत्त्वपूर्ण स्वायत्तता प्रदान करके, ब्रिटिश संभावित रूप से अलग-अलग राज्यों के भीतर प्रभाव बनाए रख सकते थे और एकीकृत भारतीय सरकार के लिए बाधाएँ पैदा कर सकते थे

थे जो आपात स्थिति के दौरान वायसराय को असाधारण शक्तियाँ प्रदान करते थे। इन प्रावधानों ने नागरिक स्वतंत्रता, सेंसरशिप और बिना मुकदमे के मनमानी गिरफ्तारी को निलंबित करने की अनुमति दी, जिससे अंग्रेजों को असहमति और राजनैतिक विरोध को दबाने के लिए उपकरण उपलब्ध हुए, खासकर बढ़ती राष्ट्रवादी गतिविधियों के समय में। विधान परिषदों के विस्तार और भारतीय प्रतिनिधियों को अधिकार के कुछ हस्तांतरण के बावजूद, अधिनियम पूर्ण जिम्मेदार सरकार या भारतीय हाथों में सत्ता के वास्तविक हस्तांतरण का प्रावधान नहीं करता था। ब्रिटिश सरकार ने शासन के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर नियंत्रण बनाए रखा और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव जारी रखा।

1935 का अधिनियम भारत के स्वतंत्र होने से पहले अंग्रेजों द्वारा भारत में किए गए संवैधानिक सुधारों की शृंखला की सबसे बड़ी कड़ी थी। कुल मिलाकर, 1935 के भारत सरकार अधिनियम को इस तरह से संरचित किया गया था कि भारत के शासन पर ब्रिटिश नियंत्रण और प्रभुत्व को सुनिश्चित करते हुए सतही तौर पर भारतीयों को कुछ हद तक स्वायत्तता और प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। इसके प्रावधानों का उद्देश्य फूट डालो और राज करो की नीति को बनाए रखना, भारतीयों को सत्ता के हस्तांतरण को सीमित करना और ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन के हाथों में अंतिम अधिकार बनाए रखना था।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कांग्रेस नेताओं ने इस अधिनियम को 'भारत-विरोधी', 'गुलाम संविधान' और 'बंधन का एक नया चार्टर' कहा। कांग्रेस ने इस संविधान का मुकाबला करने का संकल्प लिया। यह और बात है कि वे जल्द ही 1937 में इस अधिनियम के तहत चुनाव कराने पर सहमत हो गए। बाद में, नए भारत के संविधान में 1935 अधिनियम के लगभग तीन-चौथाई भाग को बिना किसी महत्त्वपूर्ण बदलाव के बरकरार रखा गया। वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने इस अधिनियम के निर्माण मे शामिल औपनिवेशिक उद्देश्यों को स्पष्टता के साथ बताया: "हमने ...1935 का अधिनियम बनाया, क्योंकि हमने भारत में ब्रिटिश प्रभाव को बनाए रखने का ...सबसे अच्छा तरीका सोचा था। यह हमारी नीति का हिस्सा नहीं है... भारत में संवैधानिक बदलावों को अपने फायदे के लिए तेज करना, या भारत को अपने कब्जे में रखने के लिए किसी भी दर पर भारतीयों के हाथों में नियंत्रण सौंपने की जल्दबाजी करना, जिसे हम दीर्घकालिक दृष्टिकोण से भारत को साम्राज्य में बनाए रखने के लिए सबसे अच्छी गणना मानते हैं ।"[14]

इस प्रकार, 1857 के बाद भारत को सेना के माध्यम से नहीं बल्कि जनगणना, गजेटियर्स और शिक्षा नीति के माध्यम से जानकारी एकत्र करने के अलावा 'प्रतिनिधि' और कानून बनाने वाली संस्थाओं के माध्यम से नियंत्रित किया गया था। संवैधानिक विकास साम्राज्य के समक्ष संकटों के प्रति ब्रिटिश प्रतिक्रिया थी। शिक्षित वर्ग को भारत में प्रतिनिधि और जिम्मेदार सरकार देखने की उम्मीद थी जैसा कि उन्होंने ब्रिटेन में देखा था। विधानमंडल एक ऐसा माध्यम था जिसका उपयोग मूल निवासियों की बढ़ती संख्या को समायोजित करने के लिए किया जाता था, लेकिन अधिकारियों ने यह सुनिश्चित किया कि विधायी निकायों का संविधान ऐसा हो कि वे भारत में ब्रिटिश शासन को बनाए रखने और मजबूत करने में मदद करें।

1935 का अधिनियम भारत के स्वतंत्र होने से पहले अंग्रेजों द्वारा भारत में किए गए संवैधानिक सुधारों की शृंखला की सबसे बड़ी कड़ी थी। कुल मिलाकर, 1935 के भारत सरकार अधिनियम को इस तरह से संरचित किया गया था कि भारत के शासन पर ब्रिटिश नियंत्रण और प्रभुत्व को सुनिश्चित करते हुए सतही तौर पर भारतीयों को कुछ हद तक स्वायत्तता और प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। इसके प्रावधानों का उद्देश्य फूट डालो और राज करो की नीति को बनाए रखना, भारतीयों को सत्ता के हस्तांतरण को सीमित करना और ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन के हाथों में अंतिम अधिकार बनाए रखना था

संदर्भ-

1. *एबी कीथ, ए कान्स्टिटूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया 1600-1935* , सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1961, पृष्ठ 4-5
2. एसआर मेहरोत्रा, टूवर्ड्स इंडियास फ्रीडम एण्ड पार्टिशन, रूपा, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 202.
3. लक्ष्मी सुब्रमण्यन, *हिस्ट्री ऑफ इंडिया 1707-1857*, ओरिएंट ब्लैकस्वान , नई दिल्ली, 2010, पृ. 91.
4. एसआर मेहरोत्रा,पू. उ., पृष्ठ 203
5. स्नेह महाजन, *इंपीरियलिस्ट स्ट्रेटेजी एंड मॉडरेट पॉलिटिक्स,: इंडियन लेजिस्लेचर एट वर्क 1909-1920*, चाणक्य प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृष्ठ 17।
6. सर बार्टले फ्रेरे (1815-84) ने सिंध के मुख्य आयुक्त, वायसराय काउंसिल के सदस्य और बॉम्बे के गवर्नर के रूप में कार्य किया।
7. स्नेह महाजन, पू. उ., पृष्ठ 18
8. चंद्रपाल सिंह, "कान्स्टिटूशनल रेफॉर्म्स ऐज द न्यू इम्पीरीअल पॉलिसी: मैकिंग ऑफ द इंडियन कौन्सिल्स ऐक्ट ऑफ 1861" हिस्ट्री टूडै, संख्या 18, 2017
9. वुड टू एल्गिन, 28 अगस्त 1862 को पूर्वोक्त में उद्धृत किया गया है।
10. स्नेह महाजन, पू. उ., पृष्ठ 21.
11. पूर्वोक्त, पृ. 26.
12. परदमन सिंह, *लॉर्ड मिंटो एण्ड इंडियन नैशनलिजम*, चुग प्रकाशन, नई दिल्ली, पी। 31.
13. एसआर मेहरोत्रा, पू. उ., पृष्ठ 214.
14. कार्ल ब्रिज, *होल्डिंग इंडिया टू द एम्पायर: द ब्रिटिश कंजर्वेटिव पार्टी एंड द 1935 कॉन्स्टिट्यूशन*, स्टर्लिंगन्यू डेल्ही आई, 1986, पृष्ठ II।

डॉ. सीमा सिंह

आध्यात्मिकता : विधि का आधार

विधि के आध्यात्मिक आयामों के संधान से धर्म की समझ और विधिक व्यवहार में इसकी प्रयोज्यता को काफी वृद्धि हो सकती है। एक दार्शनिक अध्ययन

उच्चतम न्यायालय का आदर्श-वाक्य, 'यतो धर्मस्ततो जय:' हिंदू महाकाव्य महाभारत से उद्भूत है, और "जहाँ धर्म है, वहाँ विजय होगी" का एक गहरा संदेश देता है। यह आदर्श वाक्य इस दृढ़ धारणा का प्रतीक है कि न्याय और धार्मिकता अंतत: सफल होगी और विजय प्रदान करेगी। एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित यह वाक्य कानूनी प्रणाली और समस्त समाज दोनों के भीतर सदाचारपरक और नैतिक मूल्यों को बनाए रखने के महत्व पर बल देता है।

आदर्श-वाक्य 'सत्यमेव जयते' का महत्व हिंदू धर्मग्रंथ मुण्डक उपनिषद के एक मन्त्र में निहित है, जिसका अर्थ है 'केवल सत्य की विजय होती है'। 26 जनवरी, 1950 को, जिस दिन भारत गणतंत्र बना, इस मंत्र को राष्ट्रीय आदर्श वाक्य के रूप में अपनाया गया। 'सत्यमेव जयते' और 'यतो धर्मस्ततो जय:' दोनों मंत्रों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ही मूल सिद्धांत की परस्पर संबद्ध अभिव्यक्तियाँ हैं।

ये दो आदर्श-वाक्य निश्चय ही सत्य और धार्मिकता के बीच सहजीवी संबंध को चिह्नांकित करते हैं। 'सत्यमेव जयते' इस बात पर बल देते हुए सत्य के मूलभूत महत्व को दर्शाता है कि सत्यनिष्ठा जीवन के हर पहलू में मार्गदर्शक सिद्धांत होनी चाहिए। वहीं, 'यतो धर्मस्ततो जय:' इस धारणा पर जोर देता है कि जीत और सफलता सच्चाई या धर्म के मार्ग पर चलकर ही प्राप्त हो सकती है।

ये दोनों आदर्श-वाक्य एक दूसरे के पूरक हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि धर्म की विजय का सत्य की सर्वव्यापकता से गहन संबंध है। सत्य का स्थापन और धार्मिकता का धारण न्याय और विजय का आधार हैं। इसलिए, ये आदर्श-वाक्य निजी और सामाजिक दोनों संदर्भों में सत्य, नैतिकता और न्याय के महत्व का स्मरण सतत कराते रहते हैं।

'सत्यमेव जयते' और 'यतो धर्मस्ततो जय:' के इन वाक्यों में यह तथ्य निहित है कि सत्य की रक्षा करते हुए धर्म सत्ता को बनाए रखने का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय का है। धार्मिकता की स्थापना के लिए यह विधिक दर्शन सत्य के अन्वेषण पर केंद्रित है। दुर्भाग्यवश, यह देखकर अक्सर निराशा होती है कि 'धर्म की स्थापना के लिए 'सत्य' के अर्थ का निर्धारण करने की प्रक्रिया को कानूनी न्यायशास्त्र के क्षेत्र में प्राय: स्थान नहीं दिया जाता।

यद्यपि उक्त आदर्श-वाक्य सत्य और धार्मिकता के महत्व को रेखांकित करते हैं, किंतु विधिक प्रणाली के भीतर सत्य के अन्वेषण के लिए जिन पद्धतियों का उपयोग किया जाता है, उन पर वे स्पष्ट रूप से विचार नहीं करते हैं। 'सत्य' के अर्थ की व्याख्या और 'धर्म' की स्थापना में उसका कार्यान्वयन एक जटिल और बहुआयामी कार्य है।[1]

विधिक न्यायशास्त्र और सत्य अन्वेषण

विधिक न्यायशास्त्र को वस्तुत: न्याय के अन्वेषण में 'सत्य' के महत्व के निर्धारण के लिए अनुसंधान की गहराई से परख करनी चाहिए। इसके लिए साक्ष्य, विधिक परिपाटी, तथ्यात्मक सटीकता, तर्कसम्मत विचार और निष्पक्षता के सिद्धांतों के समर्थन की व्यापक जाँच की आवश्यकता है। तथ्यों का परीक्षण, तर्कों का विश्लेषण, साक्ष्यों का मूल्यांकन और प्रस्तुत की गई जानकारी की समग्र विश्वसनीयता और सत्यनिष्ठा का आकलन करना न्यायालय का दायित्व है।

'सत्य' का निर्धारण करने के लिए एक विस्तृत

और निष्पक्ष दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, जिसमें विभिन्न संबद्ध सिद्धांतों और जटिलताओं का समावेश हो। इसमें सत्य को प्रकाश में लाने और न्याय को बनाए रखने पर केंद्रित प्रतिपरीक्षा, विशेषज्ञ का प्रमाण, न्यायिक प्रमाण और अन्वेषण के अन्य तरीके हो सकते हैं।

'धर्म' की स्थापना के लिए विधिक प्रणाली को सत्य का निर्धारण करने के अपने तरीकों के विस्तार हेतु तकनीकी, अनुसंधान और विधि शिक्षा में हुई प्रगति को अपनाते हुए निरंतर प्रयास करना चाहिए। मुक्त संवाद और गहन विश्लेषण को बढ़ावा देकर, विधिक न्यायशास्त्र 'धर्म' की स्थापना के लिए 'सत्य' का अर्थ कैसे सुनिश्चित हो, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान अधिक से अधिक प्रभावी ढंग से कर सकता है।

'सत्य' और 'धर्म' के अर्थ को समझने के लिए, हम यूनानी और हिंदू दोनों संस्कृतियों की दार्शनिक परंपराओं पर विचार कर सकते हैं। यद्यपि ये दर्शन कुछ पक्षों पर एकमत हैं, किंतु इनमें कुछ मूलभूत अंतर भी हैं। यूनानी दर्शन मानवतावाद में निहित था, जो जागतिक जगत और इंद्रियगोचर वस्तुओं पर केंद्रित था। इसके विपरीत, भारतीय प्रणाली का आधार आध्यात्मिकता थी, जो भौतिक जगत से परे एक आध्यात्मिक क्षेत्र के अस्तित्व को स्वीकार करती थी।[2]

यूनानवासी तर्कसम्मत अन्वेषण और तर्कसंगत विचार के माध्यम से जगत को समझने का प्रयास करते हुए, जीवन के मूर्त और इंद्रियगोचर पहलुओं पर अत्यधिक बल देते थे। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जैसे लोगों द्वारा विकसित दार्शनिक ढाँचे नैतिकता, राजनीति और भौतिक दुनिया के अवलोकन और विश्लेषण के माध्यम से ज्ञान की खोज पर केंद्रित थे।[3]

इसके विपरीत, अध्यात्मवाद में गहरे तक निहित भारत की दार्शनिक परंपरा भौतिक क्षेत्र से परे एक उच्च स्तर की सत्ता को स्वीकार करती थी। हिंदू दर्शन में 'सत्य' और 'धर्म' जैसी अवधारणाएँ इस आध्यात्मिक समझ से घनिष्ठता से संबद्ध हैं। भारतीय व्यवस्था में सत्य के अन्वेषण और धार्मिकता की स्थापना में न केवल भौतिक संसार का बल्कि अस्तित्व के आध्यात्मिक और नैतिक आयामों का भी समावेश है।

यद्यपि यूनानी और भारतीय प्रणालियों के दार्शनिक आधार एक दूसरे से भिन्न हैं, किंतु दोनों का उद्देश्य आचार, नैतिकता और सत्य के अन्वेषण के प्रश्नों का समाधान निकालना है।[4] इन विविध दृष्टिकोणों के विश्लेषण से उनके अपने-अपने सांस्कृतिक संदर्भों में 'सत्य' और 'धर्म' के अर्थ और महत्व में बहुमूल्य परिज्ञान मिल सकता है।

भारतीय तत्त्व मीमांसा किसी एक सिद्धांत का समर्थन नहीं करती है, बल्कि इसमें 'सत्ता' के स्वरूप पर दृष्टिकोणों की समृद्ध विविधता का समावेश भी है। इस विविधता की झलक वेदों जैसे प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त हिंदू, बौद्ध और जैन धर्मों की प्राचीन प्रणालियों में समाविष्ट विचारों की व्यापक शृंखला में दिखाई देती है।

धर्मग्रंथों के एक प्राचीन संग्रह वेदों में यथार्थ जगत, स्व और ब्रह्मांड के स्वरूप पर गहन अंतर्दृष्टियों और प्रतिबिंबों का समावेश है। हिंदू धर्म में अद्वैत वेदांत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत जैसी विभिन्न दार्शनिक प्रणालियाँ ब्राह्मण, आत्मन, और व्यक्ति व ब्रह्मांड के बीच संबंध की अवधारणाओं का पता लगाते हुए आध्यात्मिक प्रश्नों पर अलग-अलग दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।[5]

इसी प्रकार, व्यापक भारतीय सांस्कृतिक संदर्भ में विशिष्ट परंपराओं के रूप में उभरे बौद्ध और जैन धर्म भी अपने-अपने विशिष्ट आध्यात्मिक संधार प्रस्तुत करते हैं। ये प्रणालियाँ दृग्विषयों की नश्वरता, पीड़ा के स्वरूप, अनात्मन की अवधारणा और सभी प्राणियों की परस्पर संबद्धता जैसी धारणाओं का अन्वेषण करती हैं।

भारतीय तत्त्व मीमांसा में विविधता 'सत्ता' के स्वरूप को समझने और उससे तादात्म्य स्थापित करने के विभिन्न मार्गों के अस्तित्व का मूल्यांकन करते हुए, भारतीय दार्शनिक विचार की समृद्धि और जटिलता को परिलक्षित करती है। गहन मूल्यांकन, संवाद और इन नानारूप विचारों के अन्वेषण से, भारतीय तत्त्वमीमांसा के बहुमुखी स्वरूप और विभिन्न दार्शनिक परंपराओं के भीतर इसके महत्व का अपेक्षाकृत अधिक गहन मूल्यांकन किया जा सकता है।

सनातन दर्शन और सत्य

हिंदू दार्शनिकों ने मुख्यत: आध्यात्मिक प्रश्नों, ज्ञान मीमांसा, भाषा मीमांसा और नैतिक दर्शन का गहन अनुशीलन किया। उन्होंने विभिन्न दर्शनों की स्थापना की, जिनके यथार्थ की समझ के प्रति अपना-अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। किंतु, इन दर्शनों के बीच एक समानता थी कि वे वेदों को आधिकारिक ग्रंथों के रूप में स्वीकार करते थे। वहीं, वे आत्मन नामक एक शाश्वत स्व की सत्ता को भी स्वीकार करते थे, जिसे ब्राह्मण के रूप में एक व्यापक यथार्थ का एक अभिन्न अंग माना जाता है।

हिंदू दार्शनिक परंपरा में तत्त्व मीमांसा के विभिन्न दृष्टिकोणों का समावेश है। अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत और द्वैत समेत विभिन्न दर्शनों में यथार्थ की प्रकृति और व्यक्तिगत

स्व तथा व्यापक ब्रह्मांडक्रम के बीच संबंध की विशिष्ट व्याख्याएँ मिलती हैं।

अन्वेषण के एक और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र ज्ञान मीमांसा की परिधि में, हिंदू दार्शनिकों ने ज्ञान, ग्रहणबोध और ठोस समझ हासिल करने के तरीकों से जुड़े प्रश्नों की खोज की। उन्होंने ज्ञान के कई सिद्धांतों का प्रणयन किया, जैसे प्रमाण (ठोस अनुभूति के साधन), सत्य की प्रकृति और ज्ञान के दावों की सत्यता के ज्ञान के आधार का निर्माण।

हिंदू दार्शनिक परंपरा के भीतर संचार-संवाद की गतिशीलता, अर्थ, और भाषा तथा वास्तविकता के बीच संबंध को स्पष्ट करने में भाषा मीमांसा ने अहम भूमिका निभाई। सत्य को प्रकट करने की भाषा की क्षमता का विश्लेषण करते और उसकी सीमाओं व चुनौतियों को समझते हुए दार्शनिकों ने उसके जटिल पहलुओं की गहराई से पड़ताल की।

हिंदू परंपरा में नैतिक दर्शन नैतिक सिद्धांतों, धर्म अर्थात नैतिक कर्तव्य और नैतिक उत्कर्ष के अन्वेषण की समझ पर केंद्रित है। हिंदू दार्शनिकों के उपदेशों ने नैतिक आचरण, सामाजिक दायित्वों और गुणों के संवर्धन का मार्गदर्शन किया।

इन दार्शनिक अन्वेषणों में, आत्मन की अवधारणा का स्थान मुख्य था। हिंदू तत्त्व मीमांसा में, आत्मन को एक शाश्वत, निजी स्व के रूप में मान्यता दी गई थी, जो ब्राह्मण के परम सत्य से गहनता से संबद्ध था। आत्मन और ब्राह्मण के बीच के संबंध के एक दर्शन की समझ दर्शन की दूसरी समझ से भिन्न थी। कुछ दर्शनों का बल अपनी पहचान पर था जबकि शेष परस्पर संबंध को गहन बनाए रखते हुए अपनी विशिष्टता पर जोर देते थे।

हिंदू दर्शन की विविधतापूर्ण प्रकृति में आध्यात्मिक, ज्ञान मीमांसा, भाषायी और नैतिक विचारों के एक व्यापक क्षेत्र का समावेश है। यथार्थ की प्रकृति और स्व के ये अनुसंधान दार्शनिक अन्वेषण और मनन के लिए उर्वर भूमि का कार्य करते हैं।

षड् दर्शन, अन्वेषण और प्रमाणीकरण

हिंदू धर्म में दार्शनिक दृष्टिकोणों की विविधता के मद्देनजर, इन विचारों को अन्वेषण के माध्यम से निष्ठापूर्वक स्थापित करने और प्रामाणिक बनाने की आवश्यकता हुई। फलतः, अलग-अलग दार्शनिकों की विशिष्ट आवश्यकताओं और मान्यताओं के अनुरूप तार्किक व ज्ञानमीमांसात्मक साधनों का विकास किया गया। यद्यपि एक दर्जन से अधिक दर्शन अस्तित्व में थे, किंतु उन्हें सामान्यतः छह मुख्य धाराओं में समूहबद्ध किया गया है, इस दृष्टिकोण से बहुधा कई अलग-अलग धाराओं को एक साथ जोड़ दिया जाता है। इन छह धाराओं का तीन युग्मकों में संयोजन किया जा सकता है : सांख्य--योग, वेदान्त--मीमांसा, और न्याय - वैशेषिक।

सांख्य और योग दर्शनों के पहले युग्मक में सांख्य सत्ता के घटकों के विश्लेषण और बोध पर ध्यान देता है, जबकि योग आध्यात्मिक अनुभूति और मिलन के उद्देश्य की प्राप्ति की विधियों के व्यावहारिक अनुप्रयोग पर बल देता है।[6]

छह मुख्य दर्शनों में दूसरा युग्मक वेदान्त और मीमांसा का है। वेदांत यथार्थ के परम सत्य के उद्घाटक और आत्मन व ब्राह्मण के ऐक्य के प्रबलक के रूप में उपनिषदों की व्याख्या करते हुए गहराई से उनका परिशीलन करता है। इसके विपरीत, मीमांसा आनुष्ठानिक प्रथाओं और वैदिक ग्रंथों, विशेष रूप से धार्मिक कर्तव्यों और अनुष्ठानों से संबद्ध ग्रंथों की व्याख्या पर बल देती है।[7]

अंतिम युग्मक में न्याय और वैशेषिक आते हैं। न्याय का संबंध तार्किक विचार और ज्ञान मीमांसा से है, जो ज्ञान और प्रभावशाली अनुभूति की प्राप्ति के लिए एक सुव्यवस्थित दृष्टिकोण प्रदान करता है। वैशेषिक विभिन्न प्रकार के पदार्थों के क्रमविन्यास और वर्गीकरण के माध्यम से यथार्थ की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए, ब्रह्मांड के तत्त्व विज्ञान की खोज करता है।[8]

यद्यपि इन छह दर्शनों पर अक्सर चर्चा की जाती है, किंतु यह मानना जरूरी है कि हिंदू धर्म के विविधतापूर्ण दार्शनिक परिदृश्य का वे केवल एक खंड हैं। प्रत्येक दर्शन ने हिंदू दार्शनिक परंपरा का जटिल चित्रफलक जोड़ते हुए, अपने विशिष्ट दृष्टिकोण, कार्य-पद्धतियाँ और अंतर्दृष्टि तैयार की।

हिंदू दर्शन के भीतर कई दर्शनों ने अपने दार्शनिक संधार के अतिरिक्त, निजी मुक्ति को सुगम बनाने के लिए तैयार व्यापक विधियों और प्रणालियों का सृजन किया है। इन दर्शनों के क्रोड़ में चेतना का सिद्धांत निहित है। विशेष रूप से योग, व्यक्ति की चेतना के स्तर को उत्कर्ष पर ले जाने और परमेश्वर से तादात्म्य स्थापित कराने के लिए एक बहुमूल्य उपकरण के रूप में खड़ा है।

आध्यात्मिकता और नियम

हिंदू दर्शन के भीतर विभिन्न दर्शन आध्यात्मिक जीवन, भक्ति, अंतरावलोकन और परम सत्य पर चिंतन को प्रधानता देते हैं। आध्यात्मिक विकास, आत्मान्वेषण और मोक्ष के लिए ये प्रणालियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

शारीरिक और आध्यात्मिक अनुशासनों का मेल, योग शरीर और मन को शुद्ध करने के साथ-साथ आंतरिक जागरूकता का पोषण करने और दैनिक चेतना की सीमाओं से आगे बढ़ने का एक व्यवस्थित मार्ग प्रस्तुत करता है। आसन, प्राणायाम, ध्यान और चिन्तन जैसे अभ्यासों का उद्देश्य चेतना की उदात्त अवस्था तक पहुँचना है, ताकि स्व और परमात्मा की गहन समझ को सुगम बनाया जा सके।

हिंदू दर्शन में, ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करने के एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में भक्ति का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अनुष्ठानों, प्रार्थनाओं और अन्तर्दर्शन के माध्यम से परम सत्य के प्रति गहरा प्रेम, समर्पण और श्रद्धा आते हैं। भक्ति के अभ्यास से एक गहन आध्यात्मिक बन्धन और ईश्वर से तादात्म्य की भावना का पोषण होता है।

इसके अतिरिक्त, आत्म-चिंतन, आत्मान्वेषण और अंतर्दर्शन के माध्यम से ये दर्शन मन को अंदर की ओर यात्रा करने की प्रेरणा देते हैं। इस अभ्यास के लिए किसी के विचारों, इच्छाओं और अनुरक्तियों का अन्वेषण आवश्यक है, जिसकी परिणति आत्मचेतना और आत्मन की प्रामाणिक प्रकृति के अभिज्ञान में होती है।

आध्यात्मिक बोध के अन्वेषण में मन

को चिंतन के माध्यम से ध्यानमग्न करने के अभ्यास का एक मुख्य स्थान होता है, वह एकाग्रता के माध्यम से हो अथवा चिंतन के माध्यम से। चित्त को शांत कर लोग स्थिति की चेतना से आगे बढ़ने और सीधे ईश्वर से मिलन का प्रयास करते हैं।

हिंदू दर्शन में अभ्यास और दर्शन आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक संपूर्ण संरचना प्रदान करते हैं। वे चेतना को उत्कर्ष पर ले जाने, भक्ति का पोषण करने और साधकों को आत्मान्वेषण व परम सत्य में लीन होने के मार्ग पर ले जाने का प्रयास करते हैं।

सनातन धर्म (सनातन सत्य) के संधार में, मानव को महज भौतिक रूपों से परे माना जाता है। इस दर्शन में लोगों को संपूर्ण ब्रह्मांड के अवतार और निर्मल चेतना के प्राणी के रूप में देखा जाता है। वे अपने अंतस् के साथ विशाल ब्रह्मांड के विभिन्न क्षेत्रों में कई सत्ताओं से होकर गुजरते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की सहजात चेतना परमेश्वर से गहरा तादात्म्य स्थापित करती है। यह व्यक्ति का सत्य और धर्म के सार (धार्मिकता) के बीच गतिशील संबंध से साक्षात्कार कराती है। सनातन धर्म में, धर्म को मार्गदर्शक शक्ति माना जाता है, जो समुदायों को थामे रखने के साथ-साथ ब्रह्मांड में संतुलन बनाए रखता है।

चेतना की विशालता और परमेश्वर से इसके अंतर्जात संबंध को समझकर, लोग अस्तित्व के मूल सत्य का गहन सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करते हैं। वे समझते हैं कि उनका सत्व उनकी काया की सीमाओं से परे है, बल्कि उसका संबंध एक बृहत्तर ब्रह्मांडीय सामंजस्य से है।

दर्शन की इस संरचना में, धर्म के अन्वेषण को प्रधानता दी जाती है। धर्म में न केवल व्यक्तिगत नैतिक दायित्वों का, बल्कि सदाचार को अक्षुण्ण बनाए रखने और सामाजिक सामंजस्य को बढ़ावा देने के व्यापक कर्तव्य का भी समावेश है। जब लोग धर्म के सिद्धांतों से अपने कार्यों को जोड़ते हैं, तो वे सामाजिक कल्याण का सक्रियता से पोषण करने के साथ-साथ ब्रह्मांडीय संतुलन को बनाए रखने में एक भूमिका का निर्वहन करते हैं।

सनातन धर्म में सभी प्राणियों में ऐक्य और प्रत्येक व्यक्ति के भीतर सहजात दैवत्व पर बल दिया जाता है। इसमें भौतिक सीमाओं के परे शाश्वत सत्व को स्वीकार करते हुए मानव जीवन के व्यापक ग्रहणबोध को बढ़ावा दिया जाता है। लोग धर्म के सिद्धांतों का अनुसरण करने के साथ-साथ परमेश्वर से इस बंधन को प्रगाढ़ करते हुए, अपने आत्मन का अन्वेषण और ब्रह्मांड के व्यापक सामंजस्य में एक भूमिका का निर्वहन करना चाहते हैं।

हिंदू दर्शन में, आचार का कार्य धर्म की स्थापना करना है, लोगों के जीवन में जिसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। हिंदू धर्म के चार मुख्य लक्ष्य या पुरुषार्थ हैं : धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष। इनमें धर्म को मौलिक और सर्वोपरि माना जाता है। मुक्ति के प्रतीक मोक्ष की प्राप्ति के लिए धर्म के मार्ग पर चलना हिंदुओं का परम उद्देश्य है।

हिंदुओं के लिए धार्मिक जीवन हेतु एक नैतिक और सदाचरणिक संरचना प्रदान करते हुए धर्म एक मार्गदर्शक सिद्धांत का कार्य करता है। यह समुदाय में सद्भाव और निष्पक्षता को बढ़ावा देते हुए नैतिक और सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करने के महत्व पर बल देता है। धर्म के पालन से लोग अपने कार्यों का उच्च आध्यात्मिक सत्य से तारतम्य स्थापित कर सकते हैं।

दो अन्य पुरुषार्थों काम और अर्थ को भी स्वीकार किया गया है, किंतु इनका पालन धर्म की सीमाओं के भीतर ही किया जाना चाहिए। हिंदू आध्यात्मिकता के अनुसार धर्म की सीमा से बाहर इच्छाएँ या धन संचय की कामना पापपूर्ण है। इस सिद्धांत की सीमा में आधुनिक कानून की व्याख्याएँ भी आ जाती हैं, जहाँ यौन अपराधों या लोगों के विरुद्ध अन्य अपराधों सरीखे धर्म के विरुद्ध कार्यों को अनैतिक और कानून के अन्तर्गत वर्जित माना जाता है।

इसी प्रकार, धर्म के विपरीत धन संचय करना पाप माना जाता है और भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम या संपत्ति से जुड़े अपराधों से संबद्ध कानूनों समेत विभिन्न कानूनों के तहत इसे अपराध ठहराया गया है।

लोगों को उच्च सिद्धांतों और नैतिक मूल्यों के अनुरूप कार्य करने का मार्ग दिखाते हुए, धर्म एक नैतिक दिशा सूचक के रूप में कार्य करता है। अपने निर्णयों और आचरण में धर्म की मर्यादा बनाए रखकर लोग सदाचारपूर्ण जीवन जी सकते हैं और मोक्ष का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं।

धर्म के ज्ञान से लोग संहिताबद्ध और अघोषित दोनों कानूनों को समझने में सफल हो सकते हैं, और न्याय प्रणाली का मूल लक्ष्य इस धर्म का संरक्षण और सुरक्षा करना है। माननीय उच्चतम न्यायालय को धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक कोई भी निर्देश जारी करने का अधिकार देते हुए, भारतीय संविधान का अनुच्छेद 142 इस तथ्य की पुष्टि करता है, जो पूर्ण न्याय का प्रतीक है। अन्य न्यायालयों की विवेकाधीन और आंतरिक शक्तियों के साथ उच्चतम न्यायालय का यह विशिष्ट अधिकार, सामूहिक रूप से धर्म की मर्यादा को बनाए रखने के व्यापक उद्देश्य को पूरा करता है।

इसी प्रकार इस परिप्रेक्ष्य में 'न्याय की नैसर्गिक विधि' और 'सम्यक् विधि प्रक्रिया' का समावेश हो सकता है। ये अवधारणाएँ इस बात की अनुशंसा करती हैं कि सभी कानून और प्रक्रियाएँ न्याय, निष्पक्षता और तर्कसंगतता के सिद्धांतों पर आधारित हों। इन सिद्धांतों के पालन से, विधिक प्रणाली यह सुनिश्चित करने का प्रयास करती है कि स्थापित कानून और प्रक्रियाएँ सभी संबद्ध लोगों के लिए न्यायसम्मत, निष्पक्ष और उचित हों।

अंततः, धर्म का ज्ञान कानून को समझने और उसका अनुरक्षण करने की एक संपूर्ण संरचना प्रदान करता है। न्याय प्रणाली समाज के भीतर न्याय, निष्पक्षता और धार्मिकता की रक्षा करने और उसे आगे बड़ाने के अपने मूल उद्देश्य को पूरा करे, यह सुनिश्चित करते हुए धर्म कानूनी सिद्धांतों की व्याख्या और क्रियान्वयन का मार्गदर्शन करता है।

विमर्श में इस बात पर बल दिया जाता है कि धर्म, जिसे सर्वोच्च कानून माना जाता है, को समुचित व्याख्या के अभाव के बावजूद न्यायपालिका का संरक्षण मिलना चाहिए। धर्म की प्राप्ति भारतीय दर्शन (षड् दर्शन) की छह प्रणालियों के उपयोग और आध्यात्मिक अन्वेषण से हो सकती है।

आध्यात्मिकता में निजी अस्तित्व से परे, महज संवेदी इंद्रियों से ऊपर किसी वस्तु में

आस्था अनिवार्य है। इसके अनुसार सामूहिक समष्टि, जिसका हम एक अंग हैं, में एक ब्रह्मांडीय या ईश्वरीय सत्ता निहित है। किंतु, गहन आध्यात्मिकता में विचरण करना सभी के लिए सहज सुलभ नहीं है और धर्म के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए एक प्रतिबद्ध प्रक्रिया की आवश्यकता होती है।

कुछ हिंदू ग्रंथों में धर्म को समझने के तीन मार्ग बताए गए हैं। गुरु से ज्ञान प्राप्त करना प्रारंभिक स्रोत है, जो विविध दार्शनिक संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन से प्राप्त किया जाता है। दूसरा स्रोत एक मार्गदर्शक दृष्टांत के रूप में उदारचेता और सदाचारी लोगों के आचरण का अवलोकन करने में निहित है। तीसरा स्रोत निजी अनुभवों से उद्भूत होता है, क्योंकि लोग अपने जीवन को स्वयं दिशा देते हैं और अपने कार्यों के परिणामों से सबक लेते हैं।

इन तीनों मार्गों को अपनाकर जीवन में धर्म के ज्ञान और अनुप्रयोग का संवर्धन किया जा सकता है। दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन, सद्गुणी आदर्शों के अनुसरण और निजी अनुभवों के मंथन से, लोग धर्म और अपने जीवन में उसके महत्त्व के गहरे ज्ञान का विकास करते हैं।

धर्म के रहस्य को समझने के लिए, भारतीय दर्शन की छह प्रणालियों द्वारा प्रस्तुत उपकरणों का उपयोग करते हुए, आध्यात्मिकता का अन्वेषण करना चाहिए। इस अन्वेषण में गुरुओं से प्राप्त ज्ञान का समेकन, सदाचारी आचरण का पालन, और अपने अनुभवों से शिक्षा की प्राप्ति आते हैं। इन मार्गों को अपनाकर लोग धीरे-धीरे धम के सर्वोच्च नियम और अपने जीवन में उसके व्यावहारिक उपयोग का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करते हैं।

संभव है कि निजी अनुभव सर्वत्र सुलभ नहीं हो, किंतु अन्य दो मार्ग -- हिंदू दर्शन का अध्ययन और सदाचरण का पालन -- धर्म का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने के शक्तिशाली साधन हैं। किंतु, दुर्भाग्यवश आधुनिक विधिक प्रणाली में हमारे विधिक शोधों में हिंदू दर्शन और संस्कृत ग्रंथों के इन पहलुओं को स्थान नहीं दिया जाता। फलतः, विधिक शिक्षा में हमारे लिए धर्म को समझने हेतु आवश्यक प्रक्रियाओं और सिद्धांतों की शिक्षा की प्रभावशील ज्ञान प्रणालियों का अभाव है।

न्यायिक निर्णय और धर्म के सिद्धांत

ज्ञान में यह अंतर विशिष्ट न्यायिक निर्णयों में स्पष्ट दिखाई देता है जिनमें निजी विकल्प और स्वतंत्रता को आगे रखते हुए धर्म के सिद्धांतों की निरंतर उपेक्षा की जाती है। यह निराशाजनक है कि हमारी विधिक प्रणाली धर्म के मूल तत्त्व को समझने के उचित तंत्र के बिना न्याय प्रदान करती है। व्यवस्था में यह अन्तर्जात दोष न्यायपालिका के प्रति जनसाधारण के घटते विश्वास को परिलक्षित करता है।

विधिक शिक्षा में धर्म के समग्र ज्ञान के अभाव के चलते, न्याय के सिद्धांतों और धर्म का मार्गदर्शन करने वाले आध्यात्मिक और दार्शनिक आधारों के बीच एक अलगाव विद्यमान है। इस अलगाव के फलस्वरूप अन्याय की एक भावना उत्पन्न हो सकती है और न्यायपालिका के प्रति जनसाधारण का विश्वास कम हो सकता है।

इस कमी को दूर करने हेतु धर्म के दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्षों का समेकन करने वाला एक व्यापक दृष्टिकोण शामिल करने के लिए विधिक शिक्षा प्रणाली का पुनर्मूल्यांकन जरूरी है। धर्म के सिद्धांतों का विधि के अध्ययनों में समावेश कर भावी विधि वेत्ता न्याय के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक ज्ञान का विकास कर सकते हैं, जिससे विधिक प्रणाली व धर्म के आध्यात्मिक आधारों के बीच की खाई समाप्त हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि धर्म की रक्षा के लिए आध्यात्मिकता का मार्ग अपनाना जरूरी है। किंतु, भारत को आजादी मिलने के बाद अब तक कानून और आध्यात्मिकता के बीच संबंध को मजबूत करने की दिशा में वांछित प्रगति नहीं हो पाई है।

कानून और आध्यात्मिकता के मिलन-बिंदु पर अन्वेषण की दिशा में प्रगति आश्चर्यजनक रूप से कम है। विधिक शिक्षा और अभ्यास में आध्यात्मिक सिद्धांतों व दार्शनिक उपदेशों के समेकन पर यथा वांछित ध्यान नहीं दिया गया है। फलतः, विधिक प्रणाली में आध्यात्मिक मूल्यों के विस्तृत ज्ञान और समेकन में त्रुटि व्याप्त है।

इस अंतर को दूर करने के पर्याप्त प्रयास किए जाने चाहिए ताकि कानून और आध्यात्मिकता के बीच एक सुदृढ़ संबंध कायम हो। इस हेतु हिंदू दर्शन और अन्य आध्यात्मिक परंपराओं के आध्यात्मिक उपदेशों के दृष्टिकोणों का विधिक शिक्षा और व्यावसायिक विकास के प्रयासों में समावेश किया जा सकता है। वहीं, कानून के आध्यात्मिक पक्षों पर विमर्श और अन्वेषण हेतु मंचों की स्थापना करने से धर्म के ज्ञान व कानूनी अभ्यास में इसकी अनुप्रयोज्यता में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है।

आध्यात्मिकता और कानून के अधिक से अधिक व्यापक समेकन के समर्थन से धर्म के मूल सिद्धांतों के अनुरूप, न्याय के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण का सृजन हो सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कानून और आध्यामिकता के बीच की खाई को कम करने और न्याय के अन्वेषण में निहित आध्यात्मिक तत्वों के गहरे ज्ञान व मान्यता को प्रोत्साहन देने हेतु समर्पित प्रयासों की जरूरत है।

संदर्भ

1. संस्करण :1 प्रकाशन : डॉ. एकनाथ मुन्धेमुन्धे संपादन : डॉ. एकनाथ मुन्धे आईएसबीएन : 978-93-100-0564-6
2. https://iep.utm.edu/ancient-greek-philosophy/
3. https://wisdomcenter.uchicago.edu/news/wisdom-news/what-did-socrates-plato-and-aristotle-think-about-wisdom
4. https://iep.utm.edu/modern-morality-ancient-ethics/
5. https://www.britannica.com/topic/Vedanta
6. https://egyankosh.ac.in/bitstream/123456789/81060/1/Block-5.pdf
7. https://www.britannica.com/topic/Indian-philosophy/Early-system-building
8. एनेलिटिक फिलॉसफी इन अर्ली मॉडर्न इंडिया, https://plato.stanford.edu/entries/early-modern-india/

प्रो. संजीव कुमार शर्मा

विधायन का पारंपरिक स्वरूप लोकतांत्रिकता और समाज-धर्म

हमारी परंपरागत व्यवस्था में राज्य की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य ही धर्मपालन है। इसमें विधायन समाज से ही उद्भूत होता है और समाज को ही संबोधित होता है। एक अनुशीलन

राज्य के उदय की आधुनिक एवं पाश्चात्य अवधारणाओं में व्यक्तियों के मध्य अंतर्संबंधों के निर्धारण हेतु व्यवस्थापन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। इस विचार से राज्य की उत्पत्ति वस्तुत: नियमविहीन समाज में नियमन के लिए हुई है जिससे एक नियंत्रित व्यवस्था बनाई जा सके। यह एक प्रकार से संविदावादी विचार के मूल तत्त्व की पाश्चात्य स्वीकृति का ही परिणाम है कि राज्य को शासन का दायित्व सौंपकर एक औचित्य प्रदान किया गया। शासन के अंगों में भी विधायन ही प्राथमिक है। तदनंतर कार्यपालन की आवश्यकता उत्पन्न होती है। विधायन की व्यवस्था और कार्यपालक के आदेशों के उल्लंघन को रोकने के लिए तथा प्रतिकूल आचरण पर दंड निर्धारण के लिए न्यायपालन का प्रावधान किया गया। इस प्रकार क्रमश: विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को शासन के अंगों के रूप में निरूपित किया गया। परंतु इस विवरण में यह भी अंतर्निहिततत्त्व रहा कि संरचना, प्रकृति, अधिकार तथा कार्यप्रणाली के स्तर पर ये तीनों पृथक-पृथक् अंग हैं। जहाँ भी इन तीनों अंगों में यह वांछित पृथकता स्थापित नहीं हो सकी, वहाँ शक्ति पृथक्करण का विचार प्रभावशाली रूप से प्रस्तावित किया गया। यहाँ यह भी समझना समीचीन होगा कि तीनों अंगों की यह पार्थक्य की अनिवार्यता शक्तिकेंद्रण पर आधारित है। शक्ति के केंद्र के रूप में तीनों अंगों का विकास और निरंतर विस्तार ही कालांतर में लोकतंत्र की सफलता और श्रेष्ठता का प्रमाण भी माना जाने लगा। परिणामस्वरूप अनेक बार तीनों अंगों में शक्ति प्राप्ति तथा अधिकार के व्याप के मतभेद संघर्ष और विरोध का स्थान ग्रहण करने लगे। मूलत: शासन की समस्त प्रक्रिया को विशिष्ट प्रयोजन और विशेषज्ञ नियंत्रण में आकांक्षा के फलस्वरूप शासन के तीनों अंगों में समन्वय और सहयोग को अनेक विद्वान अनपेक्षित भी मानने लगे।

भारतीय परंपरा में यह स्थिति पूर्णत: भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होती है। भारत में राज्य एक प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में सामने आता है। राज्य वस्तुत: समाज से उद्भूत संस्था है और उसे हमेशा समाज की मर्यादा में रहना अपेक्षित है। वह स्वतंत्र रूप से समाज के ऊपर नियंत्रण करने वाली संप्रभु संस्था कदापि नहीं है। उसे समाज ने निर्मित किया है। उसका निर्माण धर्मसम्मत रीति तथा संस्कार से होता है और उसे निरंतर धर्म नियंत्रित ही रहना है। इसीलिए राज्य द्वारा की जाने वाली धर्मच्युति भी स्वीकार्य नहीं है। राज्य का धर्म-स्खलन मानव द्वारा किए गए धर्म -स्खलन के समान ही दंडनीय भी है। अत: राज्य अपनी कार्यप्रणाली में भी धर्म से च्युत नहीं हो सकता है। वास्तव में राज्य की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य भी धर्मपालन ही है। राज्य सभी नागरिकों को उनके स्वधर्म का स्मरण कराता है। राज्य उन्हें अपने-अपने धर्म के अनुरूप आचरण में प्रवृत्त करता है और धर्माचरण में च्युति पर सावधान करता है। राज्य ही धर्म में स्खलन पर दंडित भी करता है। इस प्रकार राज्य अपने समस्त अधिकार और शक्ति का उपयोग धर्म-संस्थापन में ही करता है। यही राजधर्म है। अत: राज्य भी एक धर्म है।

राज्य अपने अंगों-उपांगों में भी धर्म के प्रवर्तन का उत्तरदायी है। वह प्राणियों, जीवधारियों, गरिकों तथा पशु-पक्षियों के साथ धर्मपूर्वक व्यवहार करते हुए व्यवस्था निर्माण करता है। इसीलिए उसके विधायी, कार्यपालक और न्यायिक दायित्वों में किसी पृथकता की आवश्यकता नहीं है। वे सभी दायित्व धर्मयुक्त हैं और परस्पर पूरक हैं। इसलिएं विधायन पृथक् विभाग नहीं

है। वह कोई पृथक कार्य नहीं है। वह एक पृथक अधिकार नहीं है। वह राजधर्म का एक आयाम है जिसमें राज्य अपने शासक के माध्यम से मनुष्यों के मध्य धर्म की सम्यक स्थापना हेतु व्यवस्था करता है। यह व्यवस्था सामान्यत: समाज-प्रचलित तथा लोक-स्वीकृत धर्म-सम्मत नियमों के अनुरूप ही संचालित होती है। इसमें विचलन न्यायिक दंड को आमंत्रित करता है जिसे पृथक कार्य नहीं माना गया है। अपितु राजधर्म के माध्यम से समाज-धर्म, लोक-धर्म तथा व्यक्ति-धर्म के विरुद्ध आचरण को धर्म-समस्त प्रावधानों के अंतर्गतदंडित किया जाना है। इस स्थापित व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन, परिमार्जन, परिशुद्धि और परिवर्धन होता रहता है जो समाज, ज्ञान, विद्या, प्रशासन, न्याय, धर्म, संस्कृति, कला, वाणिज्य, आदि के क्षेत्रों में संलग्न व्यक्तियों के नियमित संवाद का परिणाम होता है। अत: यह स्थैतिक नहीं है अपितु पूर्णत: गतिशील प्रक्रिया है। इसलिए विधि-निर्माण, विधायन, व्यवस्थापन, कार्यपालन, न्यायपालन, आदि पृथक्-पृथक् नहीं वरन परस्पर गुंफित कार्य एवं प्रक्रियाएँ है जिनका विकास, विस्तार, व्याप, प्रभाव तथा प्राधिकार संयुक्त है। इसी कारण भारतीय राजधर्म परंपरा में विधि के स्रोत वेद, वेदांग उपनिषद, महाकाव्य, धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र, संहिताएँ, लोकमत, ज्ञानवृद्धमतआदि हैं। इनमें कोई भी किसी एक व्यक्ति या प्राधिकारी अथवा किसी एक समूह अथवा संस्कृति पर आश्रित नहीं है। विधि वही है जो समाज-हित में हो और सामान्यत: समाज-स्वीकृत हो। विधायन भी समाज से ही उद्भूत होता है और समाज को ही संबोधित करता है।

वैदिक राजा की अवधारणा वस्तुत: भारतीय समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विद्यमान लोकतांत्रिकता को संरचनात्मक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास है। समाज पर संपूर्ण नियंत्रण समुदाय का होने पर और प्रत्येक निर्णय की शिरोधार्यता बहुमत आधारित होने पर भी राजा की शक्ति वस्तुत: नियमन, व्यवस्थापन, लोक कल्याण सुनिश्चयन तथा सर्वसुलभ स्वीकार पर केंद्रित थी। इसीलिए आधुनिक वैधता अथवा औचित्यपूर्णता के विचार के उत्स वैदिक विश, सभा, समिति अथवा विदथ में नियामक एवं विधायन-प्रवृत्त राजा की स्वीकार्यता और वांछनीयता में दृष्टिगोचर होते है। "*बहव: संभूय यदि एक वाक्यं वदेयुस्ताद्वि न: परे रति संध्यम्।*"

वैदिक काल में ही राजा के चयन की व्यवस्था और उसकी अर्हताओं की चर्चा दृश्यमान होती है। निर्वाचित अथवा चयनित राजाओं के स्वच्छंद, स्वेच्छाचारी और अमर्यादित आचरण को दंडनीय बनाने के प्रावधान तथा दृष्टांत अनेकानेक प्राचीन भारतीय ग्रंथों में उपस्थित हैं। प्रजाहित के विपरीत कार्य व्यवहार पर राजा की पदच्युति के साथ ही सामूहिक सामुदायिक दंड के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। अत: शासक के रूप में राजा के स्वैराचार को नियंत्रित किया गया और उससे लोक कल्याणकारी कार्यों में संलग्न रहने की अपेक्षा की गई। अत्रि स्मृति ने सुशासन की परिभाषा इस प्रकार की है-

दुष्टस्य दण्ड: स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य हि वर्धनं च।

अपक्षपात: निजराष्ट्ररक्षा पंचौव धर्मा: कथिता नृपाणाम्[1]

यह राजतंत्र का भारतीय स्वरूप था जो अपने नामकरण में भले ही एक व्यक्ति में केंद्रित सत्ता के रूप में राजतंत्र कहा जाता रहा है और पश्चिम के राजतंत्र के प्रतिमानों के साथ खड़ा कर दिया जाता रहा है परंतु वह अपने मूल स्वभाव, चरित्र, आकार, अवतार, व्याप और विस्तार में नैसर्गिक रूप से लोकतांत्रिक ही है।

राज्य के रूप में समाज की एक नवीन प्रशासनिक संरचना की उत्पत्ति ने समुदायों को विधि निर्मित करने के प्रशासनिक आयामों से मुक्ति तो अवश्य दी परंतु समाज की सुदृढ़ आधारभूमि धर्म की मर्यादा-रेखा से पृथक कदापि नहीं किया। इसीलिए समाज द्वारा स्थापित सीमा-चिह्नों और परिधियों की सांस्कृतिक स्वीकृति धर्म से ही नि:सृत होती रही। वही सामुदायिक आचरण का नियमन करने की विधि भी रहा और राज्य के क्रिया-कलापों, शक्तियों और दायित्वों की अंतर्वस्तु भी बना रहा। इससे राजा को प्राधान्य प्रदान करने वाली राजतंत्रात्मक व्यवस्था में भी धर्म-परायणता की अपरिहार्यता बनी रही। भारतीय दार्शनिक सोमदेव सूरी ने कहा कि राजधर्म राज्य के माध्यम से धर्म की सुरक्षा और परिपूर्णता है। "*अथ धर्मफलाय राज्याय नम:।*"[2] इसी कारण समाज में व्यक्तियों के राजनैतिक और प्रशासनिक अंतर्संबंधों के निर्धारण के लिए धर्म सभी अभिकरणों में सर्वोपरि बना रहा। राज्य के उदय से पूर्व की स्थितियों में विधि तथा विधायन के स्वरूप का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने उल्लेख किया है कि एक ऐसा समय था जब न राज्य का अस्तित्व था और न ही राजा का। उस समय न तो दंड का प्रावधान था और न ही दांडिक उपलब्ध था। समाज के लोग धर्मपूर्वक आचरण करके ही परस्पर रक्षा करते थे। यह धर्म-समाज प्रचलित व्यवहार नियमों के अनुरूप होता था। सभी में पारस्परिकता की भावना एक दूसरे की रक्षा का आधार बनती थी।

न वै राज्यं न राजाऽसीत् न दण्डो न च दाण्डिक:।

धर्मेणेव प्रजा: सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्[3]

कालांतर में समाज में धर्मस्खलन की दशाओं में अनुशासन एवं नियमन की आवश्यकता दृष्टिगत हुई और विधि-निर्माण हेतु राजा का चयन अथवा निर्वाचन किया जाने लगा। यह राजा शपथ-बद्ध होकर समग्र समाज हित की साधना के लिए अपना सर्वस्व व्यक्तिगत त्यागकर बहुमत के हित में प्रवृत्त होता था। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ में राजा

वैदिक काल में ही राजा के चयन की व्यवस्था और उसकी अर्हताओं की चर्चा दृश्यमान होती है। निर्वाचित अथवा चयनित राजाओं के स्वच्छंद, स्वेच्छाचारी और अमर्यादित आचरण को दंडनीय बनाने के प्रावधान तथा दृष्टांत अनेकानेक प्राचीन भारतीय ग्रंथों में उपस्थित हैं। प्रजाहित के विपरीत कार्य व्यवहार पर राजा की पदच्युति के साथ ही सामूहिक सामुदायिक दंड के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। अत: शासक के रूप में राजा के स्वैराचार को नियंत्रित किया गया और उससे लोक कल्याणकारी कार्यों में संलग्न रहने की अपेक्षा की गई

के निर्वाचन के समय की कठोर शपथ का वर्णन उपलब्ध होता है।

यां च रात्रिमजायेह यां च प्रेतास्मि
तदुभयमन्तरेण।
इष्टापूर्ते मे लोके सकृतमायुः प्रज्ञां वृज्जीथा
यदि से द्रुह्वो यंमिति।।

अर्थात् यदि मैं प्रजाजनों से विश्वासघात करूँ तो मैं जिस रात्रि में उत्पन्न हुआ और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, इन दोनों के मध्य मेरे द्वारा किए गए समस्त पुण्य कर्म नष्ट हो जाएँ तथा मुझे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति न हो एवं मैं अपने जीवन और संतान सभी से वंचित कर दिया जाऊँ।[4] यह शपथ राज सिंहासन पर विराजमान होने वाले व्यक्ति को कर्त्तव्य पथ से विचलित न होने देने की धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आश्वस्ति है। वस्तुतः राजशक्ति एक सामाजिक एवं नैतिक अनुबंध है जो सतत रूप से धर्माच्छादित है। इसलिए राजा द्वारा अपनी भावी विधि व्यवस्था का आश्वासन इस विचार से संयुक्त है कि ज्ञानवृद्ध, धर्मसम्मत, शास्त्रोक्त, समाज नियमबद्ध तथा लोकहित कारक कार्य और उद्देश्य ही राजधर्म का आधार बनेंगे। वैदिक संकल्पना-योगक्षेमः नः कल्पताम्-का[5] यह महाकाव्यकालीन विस्तार-

यन्मां भवन्ती वक्ष्यन्ति कार्यामर्थसमन्वितम।
तदहं वः करिष्यामि नात्रकार्या विचारणा[6]-तक पहुँचता है।

भारतीय परंपरा में सृष्टि की संरचना के साथ उद्भूत विधि नैसर्गिक है तथा वैदिक परंपरा में ऋत कहलाई। "ऋत च सत्यं च तपसोऽध्यजायत" ऋत और सत्य की उत्पत्ति एक साथ होती है। ''ऋत वैदिक विश्वविद्या है। ऋत ही विश्व का मूल है। ऋत की शक्ति ही सभी शक्तियों की मूल है। ऋत के संरक्षक मित्रावरुण में भी शक्ति ऋत से ही आती है। ऋत में सत्य, दृढ़ स्वात्मवाद और विश्व-समन्वय के तत्त्व विद्यमान हैं। मानव कल्याण के लिए अपेक्षित सभी पदार्थो का जनक ऋत है। वह उसका विनियोग मानव कल्याण के लिए करता है। ऋत का तात्पर्य उत्तम गमन और निश्चित नियम हैं।"[7]

ऋत को शासक और देव भी कहा गया है। उसका स्वरूप नैसर्गिक विधि का है जिससे समष्टि में विकास प्रक्रिया क्रमबद्ध हो जाती है। व्यक्ति और समाज के संबंधों का प्रारंभिक आधार और निर्धारक ऋत ही था। उसमें सदाचार, परंपरा, व्यवहार तथा आचार आदि का संयोग होने से उसका प्रत्यक्ष रूप सामाजिक विधान हो गया। ऋत का उद्देश्य धर्म-स्थापना अर्थात् दायित्व-बोध से संयुक्तीकरण रहा। तदनंतर धर्म का आकार एवं प्रकृति समाज, व्यक्ति, संस्था, समुदाय, जीव, चेतन, अचेतन, पर्यावरण, पशु, पक्षी, सबका संस्पर्श करते गए और नियमबद्धता, मर्यादा, विधान, श्रुति, परंपरा आदि धर्म का मूल तत्त्व बनते गए। इसीलिए वैदिक अराजता भी धर्मसम्मत और नैसर्गिक विधि संचालित है। अंतर मात्र सत्ता के केंद्र की निर्णयात्मकता का है। अतः राजा अथवा शासक दायित्वबद्ध तो है परंतु शक्ति संपन्न नहीं है। वैदिक राज्यविहीन समाज अराजक नहीं है अपितु पृथकराजनैतिक एवं प्रशासनिक सत्ता प्राधिकारी की सार्वजनिक अनुपस्थिति मात्र है। कालांतर में वैदिक सामाजिक संस्थाओं का राजनैतिक स्वरूप भी आकार ग्रहण करने लगा और उनके सांगठनिक आयाम सामाजिक विस्तार पाने लगे। इसी क्रम में वैदिक सभा, समिति, विदथ, सेना, परिषद, सेनानीआदि दृष्टिगत होने लगे।

ऋत को शासक और देव भी कहा गया है। उसका स्वरूप नैसर्गिक विधि का है जिससे समष्टि में विकास प्रक्रिया क्रमबद्ध हो जाती है। व्यक्ति और समाज के संबंधों का प्रारंभिक आधार और निर्धारक ऋत ही था। उसमें सदाचार, परंपरा, व्यवहार तथा आचार आदि का संयोग होने से उसका प्रत्यक्ष रूप सामाजिक विधान हो गया। ऋत का उद्देश्य धर्म-स्थापना अर्थात् दायित्व-बोध से संयुक्तीकरण रहा। तदनंतर धर्म का आकार एवं प्रकृति समाज, व्यक्ति, संस्था, समुदाय, जीव, चेतन, अचेतन, पर्यावरण, पशु, पक्षी, सबका संस्पर्श करते गए और नियमबद्धता, मर्यादा, विधान, श्रुति, परंपरा आदि धर्म का मूल तत्त्व बनते गए

कौटिल्य के समय की उन्नत एवं विकसित अर्थव्यवस्था और सर्वमुखी राजसत्ता व्यापार, उद्योग, खनन, कृषि, पशुपालन, भू-राजस्व, सिंचाई, राजमार्ग, जलमार्ग, आदि सभी मानव क्रियाकलापों का नियमित, सुव्यवस्थित एवं स्तरीकृत पर्यवेक्षण, नियमन और व्यवस्थापन करती थीं। इसीलिए कौटिल्य भारतीय राजशासन तथा विधायन की पूर्णतः वैज्ञानिक और प्रशासकीय व्यवस्था सुनिश्चित करते हुए सुगठित विभाग विभाजन भी करता है। न्यायाधिकरणों का प्रामाणिक स्वरूप कौटिल्य की व्यवहार विधि का स्पष्ट प्रकटीकरण है।[8]

महाकवि बाण ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कादम्बरी' में राजा को परामर्श दिया है कि वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र को राज्य-व्यवस्था संचालन के लिए प्रमाण माने। (कौटलीये अर्थशास्त्रम् प्रमाणम्) कौटिल्य भी स्वयं यह घोषणा करता है:-

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधि कृतः।।[9]

अर्थात् सभी शास्त्रों एवं पूर्व में विद्यमान मतों का अनुशीलन कर एवं सिद्धांतों और व्यवहारों का पूर्ण-प्रयोग कर कौटिल्य ने राजा के लिए शासन की विधि निर्मित की है।

येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराज्यगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।।[10]

अर्थात् इस शास्त्र की रचना उस व्यक्ति ने की है जिसने शस्त्र और शास्त्र का उद्धार किया है, नंद राज्य के उच्छेद द्वारा अधिगत पृथ्वी का उद्धार कर अमर्ष से शीघ्र सबको ऊपर उठाया है और नवीन राज्य व्यवस्था की स्थापना की है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजतंत्र के स्वरूप, प्रकृति तथा आचरण की मर्यादाशीलता के सुनिश्चयन हेतु महामात्य तथा राजपुरोहित के अधिकारों में पर्याप्त विस्तार देखने को मिलता है जिससे यह भी सिद्ध होता है कि अनेकानेक प्रशासनिक तथा आर्थिक शाखा-उपशाखाओं वाले वृहद्काय राजतंत्र में किसी भी एक व्यक्ति में सभी अधिकारों का केंद्रित होना असम्भव था। महाभारतकार का कथन है- राज्यं हि सुमहत्

तन्त्रं।[11] इसीलिए राजनिर्णय राजा के विवेकाधीन कृत्य नहीं होते थे अपितु संबंधित विभागों के अध्यक्षों और मंत्रिपरिषद अथवा अमात्य परिषद के अभिमत, स्थापित विधि, सामाजिक परंपरा, राष्ट्र की रक्षा, व्यापक जनकल्याण, आर्थिक उत्कर्ष, प्रशासनिक सुविधा, आदि को दृष्टिगत कर लिए गए सामूहिक निर्णय होते थे। इसलिए समस्त प्राचीन भारतीय वाङ्मय मंत्रिपरिषद के परामर्श को राजा के किसी भी निर्णय की अपरिहार्य पूर्वावश्यकता मानता है। न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान भी प्रजाजनों के संपत्ति संबंधी तथा अपराध विषय दंड व्यवस्था के विषय में आत्मविवेक से तथा राजा के पद एवं शक्ति से निरपेक्ष भाव से प्रशासनिक निर्णय करने की आश्वस्ति ही है।

शास्त्रसम्मत विधान के अनुरूप ही सभी परिस्थितियों में निर्णय के संबंध में श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन से कहते हैं-

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि।।[12]

अर्थात कर्तव्य अथवा अकर्तव्य का निर्णय करते समय दुविधा अथवा संशय की स्थिति में शास्त्र ही प्रमाण है। अत: शास्त्र विहित विधान में वर्णित कर्म को जानकर ही कार्य करना उचित है।

भारत में संप्रभु राजशक्ति के वैदिक उदय के साथ भी सामूहिक, सामुदायिक, वैश्विक तथा समष्टिपरक कल्याण की आकांक्षा और अपेक्षा की भावना संयुक्त रही। वैदिक उक्ति है- विशास्त्वा सर्वा: वांछन्तु। यह वैदिक प्रार्थना शासक को लोकप्रिय होने का आग्रह करती है। इसीलिए राजकृत, ग्रामणी, विश, जनपद, गोप, आदि से जन-स्वीकृति, लोक-सहमति, वृहद कल्याण तथा रक्षा-सुरक्षा की कामना की गई। निर्वाचित राजा को भी प्रतिनिधियों, सभ्यों तथा परिषदों के सामाजिक नियंत्रण में रखा गया। इसका अर्थ है कि शासक की अनिवार्यता और राजनैतिक नेतृत्व की अधिकारिता को सामाजिक उत्तरदायिता की परिधि प्रदान की गई जिससे आधुनिक लोकतांत्रिकता के आधारभूत मूल्यों की विद्यमानता की पुष्टि होती है। परंतु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यह मात्र प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में राजा का प्राधिकार अभिवृद्ध होने का क्रम है। विधायन की शक्ति राजा में एकमेव केंद्रित होने का प्रमाण नहीं है। वस्तुत: भारतीय परंपरा में विधायन कभी भी राजनैतिक व्यवस्था की पृथक एवं विशिष्ट विधा नहीं रही। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि भारतवर्ष की सुदीर्घ ज्ञान परंपरा और सुव्यवस्थित समाज संरचना ने विधायन को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया अथवा किंचित उपेक्षा की। अपितु सत्य एवं तथ्य यह है कि भारत में राज्य, धर्म, समाज, व्यक्ति, विधि, आदि का एक अद्भुत एवं सुगठित गुंफन परिलक्षित होता है जहाँ राज्य धर्म की मर्यादा में है। समाज धर्म नियंत्रित है। धर्म समाज की अपेक्षाओं तथा कल्याण-आकांक्षाओं से निर्धारित है। व्यक्ति समाज-धर्म और स्वधर्म से संचालित है। विधि धर्म, समाज और राज्य का मानव कल्याण के प्रति सामूहिक आश्वासन है।

भारत में संप्रभु राजशक्ति के वैदिक उदय के साथ भी सामूहिक, सामुदायिक, वैश्विक तथा समष्टिपरक कल्याण की आकांक्षा और अपेक्षा की भावना संयुक्त रही। वैदिक उक्ति है- विशास्त्वा सर्वा: वांछन्तु। यह वैदिक प्रार्थना शासक को लोकप्रिय होने का आग्रह करती है। इसीलिए राजकृत, ग्रामणी, विश, जनपद, गोप, आदि से जन-स्वीकृति, लोक-सहमति, वृहद कल्याण तथा रक्षा-सुरक्षा की कामना की गई। निर्वाचित राजा को भी प्रतिनिधियों, सभ्यों तथा परिषदों के सामाजिक नियंत्रण में रखा गया

अत: विधायन समाज, धर्म, ज्ञान, श्रुति, साहित्य, प्रथा, परंपरा, आदि से सर्वथा संपृक्त है और इसीलिए किसी भी प्रकार से एक विशिष्ट पृथक प्रक्रिया नहीं है। कालांतर में अराजकता के अराजकता में परिवर्तित होने पर संप्रभुता-संपन्न राजनैतिक व्यवस्था की आवश्यकता अनुभूत होने लगी। इसके परिणामस्वरूप धर्मरक्षा का दायित्व शनै:-शनै: राजा को प्राप्त होने लगा। यद्यपि वह स्वयं धर्म का निश्चय करने का अधिकारी नहीं बना परंतु सभी को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त रखने और सभी को स्वधर्म की दिशा सूचित करने का अधिकार राजा को मिलने लगा। महाभारतकार ने कहा-

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थ संरक्षणाय च।
मर्यादास्थपिता लोके दंडसंज्ञा विशांपति:।।[13]

समाज में सभी को उनके धर्म से संयुक्त करने, सभी को सुरक्षा प्रदान करने, सभी की सहमति एवं स्वीकृति प्राप्त करने, संघर्षों का निवारण करने तथा सभी सामाजिक संस्थाओं का समन्वय करने के कार्यों से राजा का निरंतर संयुक्त हो जाना उसके अधिकारों की सीमा रेखा को विस्तार देने लगा।

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राजा दण्डेन पालित:।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु।।[14]

इसी कारण विधि का संरक्षण करने वाला राजा विधि का पालन भी सुनिश्चित करने लगा। इसका परिणाम अनिवार्य रूप से विधि के पालन की बाधाओं के निवारण करने के लिए विधि के अनुरूप दंड और न्याय की शक्ति भी राजा में केंद्रित होने में दृष्टिगोचर हुआ। इससे राजा की शक्ति में वृद्धि हुई और वह अदण्ड्योऽस्मि की उद्घोषणा में समर्थ हुआ परंतु उसे विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त नहीं हुई। वह स्वयं विधि पालन के दायित्व के निर्वाह से संबद्ध रहा। इसीलिए राजपुरोहित उसे धर्म की मर्यादा में रहने का आदेश देकर सूचित करता है कि धर्म दण्ड्योऽसि। शासक हो परंतु धर्म के नियंत्रण से मुक्त अथवा स्वच्छंद नहीं हो। अत: उसे राजत्व तो प्राप्त हुआ जिसमें दैवीय संपदाएँ अभिधानित की गई परंतु लौकिक एवं सामाजिक मर्यादाओं से मुक्ति नहीं दी गई। इसीलिए विधि समाज द्वारा ही निर्मित होती रही और समाज धर्म द्वारा संचालित होता रहा।

उत्तर वैदिककाल और महाकाव्य काल में विधि और राजा के संबंधों में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक स्वीकृति मिलने लगी और राजा की दंडधारण शक्ति धर्मपालन से धर्मप्रवर्तन की ओर अग्रसर होने लगी। महाकाव्यों में राजा को लोक कल्याण के सुनिश्चयन हेतु अनेक दायित्व एवं अधिकार प्रदान किए गए। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड में भरत से शासन व्यवस्था के

बारे में श्रीराम द्वारा पूछे गए प्रश्नों से यह स्पष्ट होता है कि राजा अब धर्मपालक मात्र नहीं है अपितु व्यवस्थापक भी है।[15] नीतियों और निर्णयों का उत्तरदायित्व भी राजा को पृथकत: प्राप्त हो गया है। महाभारत के भीष्म द्वारा शांति पर्व में राजधर्म के विषय में विस्तृत विचार विमर्श भी यह स्पष्ट करता है कि राजा के पास धर्मपालन के साथ ही धर्म संरक्षण तथा धर्मप्रवर्तन का अधिकार भी आ गया है। वह लोकरंजन के लिए व्यवस्थाएँ कर सकता है। लोकरंजनमात्रेव राज्ञां धर्म: सनातन:।[16] धर्मपालन के लिए राजा धर्म-निर्णय भी करने लगा। दंडधारण शक्ति से वह न्याय भी करने लगा। परंतु इस सब प्राधिकार ने भी उसे स्वतंत्र अथवा स्वेच्छाचारी नहीं होने दिया क्योंकि उसका यह सब आचरण वृहद सामाजिक धर्म के नियंत्रण में ही रहा। वह स्वधर्म, समाजधर्म तथा मानवधर्म से बँधा रहा। वह शास्त्र-परतंत्र रहा। वह धर्म -मर्यादित रहा।

इस संदर्भ में प्राचीन भारतीय गणराज्य व्यवस्था तथा उनकी आंतरिक लोकतांत्रिक संरचना का उल्लेख भी अनिवार्य है। गणों तथा महाजनपदों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्राचीन भारतीय राजनैतिक व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। गणों के संबंध में काशी प्रसाद जायसवाल मानते हैं कि गण-राज्य उस शासन प्रणाली को कहते थे कि जिसमें बहुत से लोगों के समूह अथवा संसद द्वारा कार्यवाही की जाती थी। गण लोगों का समूह अथवा समाज होता था और उसे गण इसलिए कहा जाता था क्योंकि उसमें उपस्थित होने वाले लोग या तो कुछ विशिष्ट संख्या में होते थे और/या उनकी गणना की जाती थी। इस प्रकार गण का दूसरा अर्थ-संसद या सीनेट हो गया और प्रजातंत्र राज्यों का शासन उन्हीं के द्वारा होता था इसलिए गण का अर्थ स्वयं प्रजातंत्रराज्य हो गया।[17]

गण अपनी सफलतापूर्ण पर राष्ट्र-नीति के लिए, अपने धनपूर्ण राजकोष के लिए, अपनी सदा प्रस्तुत रहने वाली सेना के लिए, अपनी युद्ध निपुणता के लिए, अपने सुंदर राजनियमों के लिए और अपनी सुव्यवस्था के लिए प्रसिद्ध थे। महाभारत के शान्तिपर्व के 107वें अध्याय में राज्य की नीति अथवा मन्त्र तथा गण के बहुसंख्यक लोगों द्वारा उस नीति के संबंध में विवेचन होने का भी उल्लेख किया गया है।[18]

शासन प्रणालियों की विविधता के संदर्भ में अवदानशतक का प्रसंग रोचक एवं ज्ञानवर्धक है जिसमें दक्षिणापथ में मध्यप्रदेश के वणिकों से वहाँ के राजा ने पूछा कि आपके क्षेत्र में कौन राजा है। तो मध्यदेश के वणिक ने उत्तर दिया कि कुछ देशों में गण का शासन है और कुछ में राजा का।

(अथ मध्यदेशाद् वणिजो दक्षिणापथं गता:।
तै: राज्ञो महाकप्फिणस्य प्राभृतमुपनीतम्।
राज्ञा उक्तं भो वणिज: कस्तत्र राजेति।
वणिज: कथयन्ति।
देव केचिद् देशा: गणाधीना: केचिद्
राजाधीना इति।)

इससे स्पष्ट होता है कि राजतंत्र एवं गणतंत्र एक ही काल में भारत में विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान थे। शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ में राष्ट्र विधान के संदर्भ में राजा के राज्याभिषेक का प्रसंग विधि और व्यवस्था के विषय में अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझ देता है।

इयं ते राट् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुण:।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।।[19]

राजा को संबोधित करते हुए और उसे राजकीय अधिकार प्रदान करते हुए कहा जा रहा है। यह अब तेरा राज्य है। तू इस राष्ट्र का संचालक और नियामक है। तू इस राज्य के उत्तरदायित्व का ध्रुव धारक है। यह राज्य तुझे कृषि के लिए, क्षेम के लिए, संपन्नता के लिए, पोषण या वर्द्धन के लिए दिया जाता है। यह सिद्ध करता है कि यह सामाजिक दायित्व के रूप में परम पवित्र भाव से दिया गया पद है। अत: नियमन, नियंत्रण, निर्णयन और न्याय में सभी अपेक्षाओं को ध्यान में रखना अनिवार्य है। यह सामूहिक सामाजिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है और यही लोकतांत्रिकता का सशक्त आग्रह भी है और आधार भी है।

भारत में राजनीति और राजनैतिक व्यवस्था पुरातनकाल से ही धर्म और दर्शन से अविच्छिन्न रही। "राजनीति की एक विशिष्ट परंपरा का प्रतिष्ठान हुआ जो दृष्टिकोण में लौकिक और स्वरूप में व्यावहारिक थी।"[20] भारतीय राज्य की परिकल्पना मूलत: सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने योग्य व्यवस्था के निर्माण तथा उसे धार्मिक व्यवस्था के संचालन में सहयोगी बनाने की है जिससे समाज का प्रत्येक घटक अनुशासित रूप में स्वधर्म पालन में संलग्न रहे और राष्ट्रधर्म संरक्षित रहे। यह धार्मिकता वस्तुत: समाज केंद्रित आध्यात्मिकता का प्रत्यक्षीकरण ही है। अत: भारत की विधायन परंपरा में सर्व-कल्याण, सर्व-हित तथा सर्व-सुख का मूल भाव ही राजधर्म के रूप में प्रस्तुत होता है। इसलिए समकालीन राजनैतिक व्यवस्थाएँ अपनी संरचनाओं की समस्त आधुनिकता के साथ भी पारंपरिक लोकतांत्रिकता के अंतर्निहित समाज-मूल्यों को अंगीकार करने की दिशा में प्रवृत्त हो सकती है। वस्तुत: इससे उनकी आंतरिक संवेदनशीलता में भी वृद्धि होगी और उनकी बाह्य औचित्यपूर्णता का प्रकटीकरण भी सशक्ततर होगा।

संदर्भ

1. अत्रि स्मृति
2. सोमदे सूरी नीतिवाक्यामृतम् पृष्ठ-7
3. महाभारत,
4. ऐतरेय ब्राह्मण
5. यजुर्वेद 22.22
6. महाभारत, शांतिपर्व, LIX, 102, चण्डेश्वर XVI
7. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965, पृष्ठ 5-6
8. कौटिल्यकालीन भारत, आचार्य दीपंकर, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1968 (1989 द्वितीय संस्करण)
9. कौटिलीय अर्थशास्त्र
10. तदैव
11. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 58, श्लोक 21
12. श्रीमद्भगवद्गीता, 16.24
13. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 15, श्लोक 10
14. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 1/4/19
15. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 100
16. महाभारत, शांतिपर्व, अध्यक्ष 57, श्लोक 11
17. काशी प्रसाद जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, अनुवादक-रामचन्द्र वर्म्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1927 (2008 द्वितीय संस्करण)
18. तदैव, पृष्ठ-19
19. शतपथ ब्राह्मण, 5/2/1/25
20. लल्लनजी गोपाल, प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृष्ठ 3

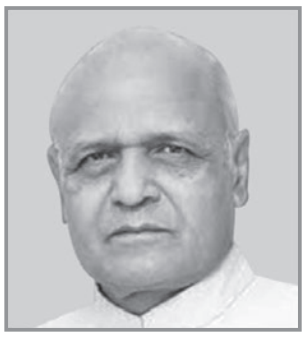

प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा

संस्कृति, संविधान व सेक्यूलरिज्म

हमारे शास्त्र रिलीजन सापेक्ष नहीं, सार्वभौम मानवता के लिए उपयोगी ज्ञान के स्रोत हैं। विधि निर्माण में इनकी भूमिका पर एक दृष्टि

भारत में प्राचीन काल से ही विधि शासित राज्य-विधान की सुस्थापित परंपरा रही है। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में विधि अर्थात कानून के शासन को सर्वोपरि माना गया है। हमारे ये शास्त्रोक्त शासन विधान राजा के लिए भी अपरिवर्तनीय माने जाते थे। आज संविधान के अनुच्छेद 28 में शासकीय कोष से संचालित संस्थानों में रिलीजन की शिक्षा का निषेध कर दिए गया और हमारे वेद, वैदिक साहित्य, वेदांग, पुराण, ब्राह्मण ग्रंथ, सूत्र ग्रंथ, स्मृतियों व राजशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों को रिलीजन की श्रेणी में मानकर उनका पठन-पाठन ही विलोपित कर दिया गया। हमारे ये शास्त्र रिलीजन सापेक्ष ज्ञान का स्रोत नहीं होकर सार्वभौम मानवता के लिए उपयोगी ज्ञान के स्रोत हैं।

इन ग्रंथों में विधिशासित राजपद व उनकी शास्त्रोक्त मर्यादाओं पर भी आज हमारे संविधान व विधिशास्त्र से भी अधिक विस्तृत नियम विधान हैं। अतएव हमारे शास्त्रों का पठन-पाठन व उन पर लोक व्यवहार को रिलीजन सापेक्ष ठहरा कर उन शास्त्रों के प्रति दुर्लक्ष्य अनुचित है। प्रस्तुत लेख के प्रारंभ में यह स्पष्ट किया जाना भी समीचीन ही है कि हमारे प्राचीन शास्त्रों में विधि आधारित शासन अर्थात रूल ऑफ लॉ की अवधारणा आज से भी दृढ़मूल थी।

शासन की प्राचीन वैदिक व शास्त्रोक्त मर्यादाएँ आज के विधि आधारित शासन अर्थात् 'रूल ऑफ लॉ' से भी कहीं अधिक व्यापक कठोर, सुस्थिर व दीर्घकालिक होती थीं। प्राचीन शासन विधान अधिक सुस्थिर व विधिशास्त्र के उन्नत स्रोत रहे हैं। आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र में भी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल सहित सभी शासकीय पदों के अधिकार, कर्तव्य व उत्तरदेयताएँ विधि अर्थात् कानून से परिभाषित होती हैं। संविधान, संबंधित अधिनियमों, नियमनों व नीतियों से वैयक्तिक स्वेच्छाचारिता, पक्षपात व मनमानी पर अंकुश रहता है। आज की संवैधानिक मर्यादाओं से भी अधिक दृढ़ शास्त्र के विधान रहे हैं। इन्हीं कुछ मर्यादाओं की चर्चा आगे की जा रही है।

प्राचीन शासन विधानों की अपरिवर्तनीयता

संविधान की मौलिक संरचना अपरिवर्तनीय होने पर भी उसमें 124 संशोधन किए गए हैं। लेकिन, प्राचीन ग्रंथों यथा गौतम स्मृति आदि में शासन मर्यादाओं में संशोधन निषिद्ध व राजा के अधिकारों से बाहर बतलाया है।

गौतम (9/19/25) ने लिखा है कि राजा को निम्नलिखित शास्त्र विधानों के आधार पर नियम बनाने चाहिए - (1) वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग (यथा व्याकरण, छंद आदि), उपवेद, पुराण; (2) देश, जाति एवं कुलों की रीतियाँ; (3) कृषकों, व्यापारियों, महाजनों (ऋण देने वालों), शिल्पकारों आदि की रूढ़ियाँ, (4) तर्कशास्त्र एवं (5) तीनों वेदों के पंडित लोगों की सभा द्वारा निर्णीत सम्मतियाँ, प्रचलित रूढ़ियों, परंपराओं, रीतियों के प्रमाण के विषय न्याय कार्य में भी लागू होते थे, जो कालांतर में नियमों के रूप में बँध गए। इनके विधेयन में परिषदों (विद्वत परिषदों) की भूमिका होती थी (याज्ञवल्क्य 1/9) एवं शंख ने भी परिषद् (विद्वानों की सभा) को शासन विधान व राजधर्म सहित धर्म निर्धारण में इन्हें प्रमाण माना है।

श्लोकः *तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैर विरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षक वणिक्पशुपालकुसी दिकारवः स्वे स्वे वर्गे। न्यायाधिगमे*

तर्कोभ्युपाय:। विप्रतिपत्तौ त्रेविद्यवृद्धभ्ये: प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् तथा ह्यस्य नि:श्रेयसं भवति। (गौतम स्मृति 9/19-25)

अशोक के शासन में लागू कई बातें उनके शिला-स्तंभों पर लिखित हैं। गौतम स्मृति (11/15-17) व याज्ञवल्क्य (1/308) के अनुसार राजा को पुरोहित से प्राप्त निष्पक्ष परामर्श के आधार पर धर्म रक्षार्थ सन्नद्ध रहना चाहिए। पक्षपात रहित रहकर लौकिक व व्यावहारिक कार्य संपन्न करने चाहिए। राजा के लौकिक कार्यों में राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाना अकाल व अन्य विपत्तियों के समय प्रजा रक्षा करना, न्याय की दृष्टि में सबको समान जानना, चोरों व आक्रमणों से जन एवं धन की रक्षा करना। (पांडुरंग वामन 621)। राजा की दृष्टि में सभी पंथों के समान आदर का कलिंग नरेश के ईसा पूर्व हाथी गुम्फा का शिलालेख सर्वपंथ समादर भाव का हिंदू परंपरा का उत्कृष्ट उदाहरण है।

आज के संवैधानिक लोकतंत्र से भी अधिक कठोर नियम व नीति विधानों से राजा की प्रतिबद्धता के विधिनिर्देश प्राचीन ग्रंथों में हैं। इनमें संशोधन का अधिकार राजा को नहीं था। इन नियमों में पौर, जनपद, राज्य की विद्वत सभाएँ, समितियाँ, विष या ग्रामाधिप आदि कर सकते थे। पांडुरंग वामन के अनुसार राजा पर कुछ ऐसे नियंत्रण ों से वह मनमानी नहीं कर सकता था। नारद संहिता व गौतम स्मृति मंत्र 9/2 की टीका में हरदत्त एवं मेधातिथि व राजनीति प्रकाश के अनुसार राजा शास्त्रों के विरोध में नहीं जा सकता था व नियमों को शिथिल नहीं कर सकता था

राजा पर शास्त्र विधानों का नियंत्रण

आज के संवैधानिक लोकतंत्र से भी अधिक कठोर नियम व नीति विधानों से राजा की प्रतिबद्धता के विधिनिर्देश प्राचीन ग्रंथों में हैं। इनमें संशोधन का अधिकार राजा को नहीं था। इन नियमों में पौर, जनपद, राज्य की विद्वत सभाएँ, समितियाँ, विष या ग्रामाधिप आदि कर सकते थे। पांडुरंग वामन (पृष्ठ 620) के अनुसार राजा पर कुछ ऐसे नियंत्रणों से वह मनमानी नहीं कर सकता था। नारद संहिता व गौतम स्मृति मंत्र 9/2 की टीका में हरदत्त एवं मेधातिथि व राजनीति प्रकाश (पृष्ठ 23-24) के अनुसार राजा शास्त्रों के विरोध में नहीं जा सकता था व नियमों को शिथिल नहीं कर सकता था। मेधातिथि (मनुस्मृति 7/13) के अनुसार ''... *राजा प्रभवति, स्मृत्यन्तरविरोध प्रसंगात, अविरोधे चस्मिन् विषये वचनस्यार्थवच्चात।*''

शुक्रनीतिसार (1/312-313) के अनुसार राजा को नियमों को स्पष्टत: प्रसारित करना चाहिए। शुक्रनीति (1/292-311) के अनुसार ''चौकीदारों को चाहिए कि वे प्रति चार घटिका (डेढ़ घंटे) पर सड़कों पर घूम-घूमकर चोरों एवं लंपटों को रोकें; लोग, दासों, नौकरों, पत्नी, पुत्र या शिष्य को न तो गाली दें और न पीटें; नाप-तौल के बटखरों, सिक्कों, धातुओं, घृत, मधु, दूध, मांस, आटा आदि के विषय में कपटाचरण नहीं होना चाहिए; राज कर्मचारियों द्वारा घूस नहीं ली जानी चाहिए और न उन्हें घूस देनी चाहिए; बलपूर्वक कोई लेख-प्रमाण नहीं लेना चाहिए; दुष्ट चरित्रों, चोरों, छिछोरों, राजद्रोहियों एवं शत्रुओं को शरण नहीं देनी चाहिए; माता-पिता, सम्मानार्ह लोगों, विद्वानों, अच्छे चरित्र वालों का असम्मान नहीं होना चाहिए और न उनकी खिल्ली उड़ाई जानी चाहिए; पति-पत्नी, स्वामी भृत्य, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र में कलह के बीज नहीं बोने चाहिए; कूपों, उपवनों, चहारदीवारियों, धर्मशालाओं, मंदिरों, सड़कों तथा लूले-लँगड़ों के मार्ग में बाधा या नियंत्रण नहीं खड़ा करना चाहिए, बिना राजाज्ञा के जुआ, आसव-विक्रय, मृगया, अस्त्र-वहन, क्रय-विक्रय (हाथी, घोड़ा, भैंस, दास, अचल संपत्ति, सोना, चांदी, रत्न, आसव, विष, औषध आदि के), वैद्यक कार्य आदि-आदि न करने चाहिए।'' मेघातिथि (मनु 8/399) का कहना है कि अकाल के समय राजा भोजन-सामग्री का निर्यात रोक सकता है।

प्रजा के उत्कर्ष व संरक्षण के विधान

आपस्तम्ब धर्मसूत्र, महाभारत (अनुशासन पर्व 39/10-11), (द्रोणपर्व 6/1) वाल्मीकि रामायण (2/100/14) आदि में राज्य, राष्ट्र व प्रजा की समृद्धि के प्रचुर प्रावधान हैं। श्रीराम के उपाध्याय सुधन्वा के अर्थशास्त्र से पुनरावृत्ति करते हुए चाणक्य ने लिखा है कि, राज्य के लिए भूमि व उस भूमि-खंड पर प्रजा के सुखपूर्वक विहार की निम्न 4 बातों की पूर्त्ति राजा का सर्वोपरि कर्त्तव्य है- (i) अलब्ध की प्राप्ति (ii) लब्ध का परिरक्षण, (iii) रक्षित का विवर्धन या बढोत्तरी और (iv) विवर्धित का सुपात्रों में विभाजन।

राजा को अवयस्कों का रक्षक एवं अभिभावक माना जाता था। गौतम (10/48-49) एवं मनु (8/27) के अनुसार लड़का वयस्क न हो जाए या गुरुकुल से लौटकर न आ जाए तब तक राजा को उसकी संपत्ति की रक्षा करनी चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र (2/2/43) वसिष्ठ (16/8-9), विष्णुधर्मसूत्र (3/65), शंख-लिखित आदि का भी यही मत है। नारद (ऋणादान, 35) के अनुसार 16 वर्षों तक अवयस्कता रहती है। मनु (8/28-29), विष्णुधर्मसूत्र (3/65) के अनुसार राजा को बंध्या स्त्रियों, पुत्रहीन स्त्रियों, कुलहीन स्त्रियों एवं रोगियों की सुरक्षा का प्रबंध करना चाहिए। नारद के अनुसार किसी स्त्री के पति या पिता के कुल में कोई न हो तो राजा को चाहिए कि वह उसकी सुरक्षा का प्रबंध करे। कौटिल्य (2-1) के अनुसार ग्राम के गुरुजनों का कर्त्तव्य है कि वे बालों (अवयस्कों) एवं मंदिरों के धन की वृद्धि का प्रबंध करें।

श्लोक: *रक्ष्यं बालधनमा व्यवहार प्रापणात्। समावृत्तेर्वा।* गौतम स्मृति 10/48-49; *रक्षेद्राजा बालानां धनान्यप्राप्तव्यवहाराणां श्रोतियवीरपत्नीनाम्।* शंख-लिखित विवादरत्नाकर पृ० 598। *बालधनं राज्ञा श्स्वध नवत्परिपालनीयम्। अन्यथा पितृव्यादिबान्धवा भयेदं रक्षणीयं मयेदं रक्षणीयमिति विवदेरन्।* मेधातिथि (मनु 8/27)। मेधातिथि ने मनु (8/28) की व्याख्या में कहा है - य: कश्चिदनाथस्तस्य सर्वस्य धनं राजा यथावत् परिरक्षेत्। तथा चोदाहरणमात्रं वशादय:।

विनियोगात्मरक्षासु भरणे च स ईश्वर:। परिक्षीण पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये।। तत्सपिण्डेषु वासत्सु पितृपक्ष: प्रभु: स्त्रिया:।

पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रियाः।। मेघातिथि द्वारा मनु (5/3/28) की व्याख्या। बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात्। देवद्रव्यं च। कौटिल्य (2/1) ।

राजा यह देखे कि राज्य में उचित मान के नाप-तोल के बटखरे प्रयोग में लाए जाएँ। कौटिल्य (2/19) ने नाप-तोल के बटखरों के अध्यक्ष की चर्चा की है। वसिष्ठ (19/13) एवं मनु (8/240) के अनुसार नाप-तोल के यंत्रों एवं बटखरों पर राज्य की मुहर लगनी चाहिए, जिनकी प्रति छमाही पर उनकी पुनः जाँच होनी चाहिए जिससे गृहस्थों को व्यापारी घोखा न दें। याज्ञवल्क्य (2/240) एवं विष्णुधर्मसूत्र (5/122) ने नाप-तोल के बटखरों, सिक्कों आदि में गड़बड़ी या उन्हें अनधिकृत ढंग से बनाने पर कठिनातिकठिन दंड की व्यवस्था दी है। नीतिवाक्यामृत (पृ० 98) ने 11वीं शताब्दी के बटखरों चर्चा की है।

राजा का एक प्रमुख उत्तरदायित्व चोरों से रक्षा है। कैकयराज अश्वपति के राज्य में चोर, कृपण या कोई शराबी नहीं थे (छान्दोग्योपनिषद् 5/11/5)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (2/10/26/6-8) के अनुसार राजकर्मचारियों का चोरों से नगर की एक योजन तक व ग्राम सीमा के एक कोस तक सुरक्षा व चोरी की क्षतिपूर्ति का दायित्व होता था।

इस प्रकार भारत में प्राचीन राज्य विधान आज के 'रूल ऑफ लॉ' से विस्तृत, व्यापक व दृढ़मूल रहा है। सहस्राब्दियों पूर्व विधि के शासन और लोक कल्याण, सामाजिक सुरक्षा एवं प्रजा रक्षण के उन्नत सिद्धांत आज से भी अधिक सुपरिभाषित हैं।

संविधान में संस्कृति की रिलीजन से भिन्न व्याख्या आवश्यक

भारत की यह शास्त्रोक्त विधान की परंपरा भारतीय संस्कृति का सर्वकष अधिष्ठान व उसका प्राणतत्त्व है। इसका शिक्षण, संरक्षण व संवर्धन राज्य का अनिवार्य दायित्व एवं हमारा मौलिक मानवाधिकार है। भारतीय ज्ञान परंपरा को संविधान के अनुच्छेद 28 में रिलीजन के शिक्षण के निषेध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। अल्पसंख्यक संस्थानों को अपनी मजहबी शिक्षा देने की छूट ही नहीं, उन्हें दी जाने वाली उदार आर्थिक सहायता से उन्हें अपनी रिलीजन सापेक्ष सब प्रकार की शिक्षा देने हेतु उन्हें शासकीय पोषण व प्रोत्साहन दिया जा रहा है। भारतीय ज्ञान परंपरा संस्कृति का प्राण तत्त्व है। उसे संप्रदाय सापेक्ष रिलीजन की शिक्षा नहीं कहा जा सकता है। दूसरी ओर भारतीय ज्ञान परंपरा में सन्निहित उन्नत ज्ञान, विज्ञान व सामाजिक विज्ञान को उसी प्रकार शासकीय संरक्षण दिए जाने का संवैधानिक दायित्व होना चाहिए जैसा संविधान के अनुच्छेद 49 में राष्ट्रीय महत्त्व के कलात्मक व ऐतिहासिक अभिरूचि के संस्मारकों, स्थानों व वस्तुओं के संरक्षण के लिए राज्य की बाध्यता है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम व ज्ञानप्रधान संस्कृति है। ऋग्वेद की 3800 वर्ष प्राचीन 30 पांडुलिपियों को यूनेस्को ने विश्व विरासत में सम्मिलित करते हुए माना कि ऐसी सुदीर्घ, अक्षुण्ण व पुरातन पांडुलिपियाँ विश्व में अन्यत्र दुर्लभ हैं। ज्ञान प्रधानता के संबंध में अमेरिकी इतिहासविद मार्क ट्वेन के अनुसार तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अनेक जानकारियाँ प्राचीन भारतीय हिंदू वाङ्मय में पहले से विद्यमान हैं और अब होने वाले नवीन अन्वेषणों व आविष्कारों के भी कई संदर्भ प्राचीन भारतीय शास्त्रों में मिल जाएंगे। यह संपूर्ण ज्ञान कोई रिलीजन सापेक्ष कर्मकांड न होकर सार्वभौम मानवोपयोगी ज्ञान की निधि है।

भारतीय शास्त्रों में सर्वकालोपयोगी अनुपम ज्ञान

राज्य शास्त्र, अर्थशास्त्र आधुनिक खगोल शास्त्र, सौर मंडल, अंतरिक्ष विज्ञान व भू-विज्ञान सहित ब्रह्मांड रचना संबंधी अनेक आधुनिक जानकारियाँ संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता में मिलती हैं। शरीर रचना, स्वास्थ्य विज्ञान और गणित सहित भौतिक विज्ञानों के भी अनेक तथ्य आज वेद, वेदांग, आरण्यक, उपनिषद, ब्राह्मण, साहित्य, सूत्र, संहिताओं व अन्य संस्कृत ग्रंथों में प्रचुरता से मिल रहे हैं। लोकतंत्र अर्थशास्त्र व नागरिक शास्त्र सहित विविध सामाजिक विज्ञानों के साथ आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं व्यापार-वाणिज्य के उन्नत सिद्धांत भी प्राचीन शास्त्रों में मिलते हैं। यह सार्वभौम मानवोपयोगी ज्ञान कोई रिलीजन सापेक्ष कर्मकांड न होकर संस्कृति का प्राणतत्त्व एवं विश्व मानवता की चिरंतन विरासत है। वेदों में प्रकाश की गति से लेकर हृदय के विद्युत-स्पंदनों तक और ब्रह्मांड की श्याम ऊर्जा से लेकर पाई के सूक्ष्म मान तक अगणित सूत्र हैं। धातु विज्ञान से विमान शास्त्र तक के अनेक उन्नत विषय उनमें हैं। पृथ्वी की धुरी के स्पंदन से लेकर हृदयगत स्मृति तक जैसे सभी विषय अत्यंत महत्त्व के हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, वाणिज्य ज्ञान, समाज शास्त्र, अंतरराष्ट्रीय राजनय और उन्नत प्रबंध शास्त्र तक का ज्ञान उनमें संकलित है।

विश्व दुर्लभ ज्ञान का विलोपन

ज्ञान की इस अनमोल निधि के अध्ययन-अध्यापन को सेक्यूलरिज्म विरोधी कहकर उसे विद्यालयों के औपचारिक के पाठ्यक्रमों से बाहर रखने से यह ज्ञान परंपरा विलोपन का शिकार हो विनष्ट होती जा रही है। प्राचीन भारतीय शास्त्रों के औपचारिक पठन-पाठन, संरक्षण-संवर्धन एवं अन्वेषण के अभाव में इनकी व्याख्या में समर्थ विद्वानों की पीढ़ी भी समाप्त होती जा रही है और ये शास्त्र आज स्वाधीन भारत में स्थाई विलोपन का शिकार हो रहे हैं। आज वेदों की ही एक हजार से अधिक शाखाएँ विलुप्त हो चुकी हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती अर्थशास्त्र और पाणिनि की अष्टाध्यायी से पूर्ववर्ती व्याकरण भी विलुप्त हो चुके हैं।

पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार देश में वेदों की 1,131 शाखाएँ प्रचलित थीं। आज उनमें से मात्र 13 शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। शेष 1,119 शाखाएँ देश से विलुप्त हो गई हैं। जर्मन में आज भी 103 शाखाएँ उपलब्ध बतलाई जाती हैं, जिन्हें जर्मन सरकार ने इतना सुरक्षित रखा हुआ है, कि उनका अध्ययन वहाँ के शीर्षस्थ विद्वानों द्वारा ही किया जा सकता है। वेद मंत्रों का अर्थ निरुक्त से होता है। प्राचीनकाल में 18 निरुक्त प्रचलित थे। अब भारत में केवल एक यास्कीन निरुक्त ही उपलब्ध है। जर्मनी में 3 निरुक्त उपलब्ध बतलाए जाते हैं। वेद संहिताओं की तुलना में अन्य श्रेणी के लुप्त संस्कृत वाङ्मय का परिमाण बहुत अधिक है। वेद शाखाओं व निरुक्त सहित लाखों ग्रंथ विलुप्त हए हैं।

प्रदेशों में जहाँ संस्कृत में आचार्य के 30-40 तक विषय रहे हैं। वहाँ आज 4-6 विषय ही बचे हुए हैं। उनमें भी छात्र व शिक्षक दोनों ही नगण्य होते जा रहे हैं। उनके लिए भी कैरिअर का अभाव ही रहता है। सभी विद्यालयों में भी वेद वेदांग, उपनिषद,

आरण्यक, ब्राह्मण, सूत्र, संहिताओं व निरुक्त सहित समग्र संस्कृत वाङ्मय का व्यापक पठन-पाठन होने से विश्वविद्यालय स्तर पर इन पर के अध्ययन, अन्वेषण व अनुसंधान की माँग बढ़ेगी। आज अखिल भारतीय एवं प्रादेशिक संस्कृत सेवाओं की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

भारतीय ज्ञान परंपरा का संरक्षण आवश्यक

कई करोड़ पृष्ठों में सुविस्तृत प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग विगत 1200 वर्षों के विदेशी आक्रमणों के दौर में जलाए व नष्ट कर दिए जाने के बाद भी स्वाधीनता के समय तक भी हम बहुत कुछ बचा कर रखे हुए थे। संस्कृत की 1.25 करोड़ पांडुलिपियाँ आज भी विविध अभिलेखागारों में अपठित रखी है। उनका पदान्वयन, निर्वचन, भाषांतर व व्याख्या आज के परिवेश में दुष्कर ही नहीं असंभव लगता है। स्वाधीनता के बाद केंद्रीकृत नियमन व सरकारीकृत शिक्षा के अंतर्गत एवं कांग्रेस के हिंदू नवोत्थान विरोधी तथाकथित सेकूलरीकरण के नाम पर उन्हें औपचारिक मान्यता युक्त पाठ्यक्रमों से निरसित व विलोपित ही कर दिया गया। जबकि विश्व की इस प्राचीनतम एवं सार्वभौम महत्त्व के वाङ्मय को अक्षुण्ण रखना स्वाधीनता के उपरान्त सरकारों का प्रथम दायित्व था। स्वाधीनता के बाद जवाहरलाल नेहरू व कांग्रेस के एक बड़े धड़े के हिंदू नवोत्थान विरोधी दृष्टि के चलते संविधान के अनुच्छेद 28 में 'रिलीजन की शिक्षा' का सर्वथा निषेध कर हमारे प्राचीन वाङ्मय के ज्ञान को रिलीजन की शिक्षा ठहराकर सेकुलरिज्म के नाम पर ज्ञान-विज्ञान की निधि रूप हमारे प्राचीन वाङ्मय को छद्म सेकुलरिज्म के नाम बलि चढ़ा दिया।

प्राचीन संस्कृतियों के विलोपन की त्रासदी

आज विश्व की अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ यथा मेसोपोटामिया की सुमेरियन, असीरियन, अक्केडियन, बेबीलोनियन और खाल्दी प्रभृति संस्कृतियाँ और मिस्र, ईरान, यूनान और रोम की संस्कृतियाँ आज विलुप्त व कालबाह्य हो चुकी हैं। विश्वगुरु रहे भारत उन्नत ज्ञान आधारित संस्कृति का अमिट प्रभाव आज भी साइबेरिया से सिंहल या श्रीलंका तक मेडागास्कर से ईरान व अफगानिस्तान तक और प्रशांत महासागरीय बोर्नियो, बाली, सुमात्रा, जावा, मलेशिया, वियतनाम, फिलीपींस, थाईलैंड व म्यांमार सहित संपूर्ण दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के अतिरिक्त यूरोप तक स्पष्ट दिखलाई देता है। लेकिन अब हमारे वाङ्मय को हम ही अध्यापन में निषिद्ध किए हुए हैं।

रिलीजन से भिन्न है संस्कृति हमारी ज्ञान परंपरा एवं धर्म

केवल अपनी ही एक मात्र उपासना पद्धति से प्रतिबद्धता और अन्य मतावलंबियों के उन्मूलन के प्रेरक रिलीजंस की श्रेणी में भारतीय संस्कृति व ज्ञान परंपरा को नहीं रखा जा सकता है। अब्राहमिक व सामी रिलीजंस के एकांतवाद प्रेरित जेहाद व क्रुसेड के संघर्षों में बारहवीं से सत्रहवीं सदी के मध्य 2 करोड़ से अधिक लोग मारे गए हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा ऐसे एकांतवादी रिलीजन न होकर अनेकांतवाद के विचार से प्रेरित हैं, जिसके अनुसार व्यक्ति अपनी रुचि प्रकृति के अनुरूप जिसकी जैसे चाहे उपासना करे या न करे। सामाजिक मर्यादा प्रेरित कर्तव्य रूपी धर्म का पालन करें अर्थात कर्तव्य पथ पर चलना धर्म है।

संस्कृत वाङ्मय का प्रत्येक शब्द ज्ञान की निधि

संस्कृत के प्रत्येक शब्द की रचना अथाह ज्ञान के कोष के रूप में की गई है। उदाहरणत: 'वन' शब्द का निरुक्ति "*वन्यते याचते वृष्टि प्रदायते इति वना:*" का अर्थ होता है प्रकृति में वृष्टि अर्थात वर्षा कराने में सहायक होने वाला वन कहलाता है। आधुनिक मौसम विज्ञान के अनुसार वर्षा के लिए आवश्यक 40 प्रतिशत आर्द्रता वन प्रदान करते हैं। इसी प्रकार हृदय में चार अक्षर 'ह' 'र' 'द' 'य' का सुनियोजित संयोजन किया है कि "*हरते, ददाते, रयते, यमम्*" अर्थात शरीर को रक्त देता है, उससे रक्त लेता है, रक्त का परिभ्रमण करता है और धड़कनों को नियमन करता है। ऐसे ही संस्कृत के प्रत्येक शब्द की अर्थपरक निरुक्ति है। प्राचीन व्याकरण व निरुक्त ऐसे अर्थपरक शब्दों के भंडार हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी, संस्कृत एवं वेदों की अनेक व्याकरणों में से एक मात्र बची हुई यह व्याकरण विश्व की प्राचीनतम ही नहीं, सर्वाधिक व्यवस्थित, पूर्ण नियमनिष्ठ व वैज्ञानिक व्याकरण है। ऐसे अनगिनत ग्रंथ व उनका प्रत्येक शब्द तक गूढ़ विज्ञान आधारित है।

भारतीय ज्ञान परंपरा व शास्त्रों का शिक्षण महत्त्वपूर्ण

हमारे ये प्राचीन शास्त्र व उनका अध्ययन, अध्यापन संप्रदाय सापेक्ष कर्मकांड न होकर हमारी समूची मानव जाति की साझी व अनादि संस्कृति के अंग रहे हैं। हमारे ये ग्रंथ आज के सभी संप्रदायों के जन्म के पहले के ऐसे सार्वभौम मानव कल्याण के संपोषक ज्ञान शास्त्र के अंग थे। सार्वभौम, सार्वकालिक व शाश्वत महत्त्व के संस्कृत वाङ्मय की यह ज्ञान निधि छद्म सेक्यूलरिज्म के दुर्लक्ष्य के कारण विलोपित ही होती चली गई है। आज देश में अल्पसंख्यक संस्थानों को रिलीजन की शिक्षा हेतु भी शासन द्वारा अनुदान दिया जाता है। लेकिन, भारत के सार्वभौम मानवोपयोगी एवं दुर्लभ संस्कृत वाङ्मय और उसके उन्नत ज्ञान को सांप्रदायिक शिक्षा कहकर विद्यालयों में उनके अध्ययन, अध्यापन व अनुसंधान दुर्लक्ष्य किया जाना अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। वेद वेदांग व संस्कृत शास्त्रों के समुचित अध्यापन, शिक्षण व संरक्षण को गैर-सैक्यूलर कहकर विद्यालयीन शिक्षा से उनके अध्ययन-अध्यापन को बाधित कर उन्हें औपचारिक शिक्षण के बाहर कर उन्हें निष्प्राण कर दिया गया है। देश की राष्ट्रीय अस्मिता के प्राणतत्त्व हमारे वेदों सहित संस्कृत वाङ्मय के प्रति यह विरोध राष्ट्र व उसकी संस्कृति के प्राणतत्त्व पर आघात से कम नहीं है। शासकीय विद्यालयों में उनका अध्यापन गैर सेक्यूलर ठहरा देने से स्वाधीनता के बाद आज केंद्र व राज्यों के बोर्ड के पाठ्यक्रमों से ये विलुप्त ही हो गए हैं। वेदों, वेदांगों उपनिषद, आरण्यक, ब्राह्मण ग्रंथ, पुराण, सूत्र ग्रंथ, खगोलीय व अन्य संहिता ग्रंथ, राज्य शास्त्रीय ग्रंथ आदि भारतीय वाङ्मय का विद्यालयों में उच्च प्राथमिक स्तर से शिक्षण समीचीन है। उससे इन विषयों में शास्त्री व आचार्य के उपाधिधारी पात्र शिक्षकों की माँग होने से उच्च शिक्षा के स्तर पर भी इन विषयों का अध्ययन-अध्यापन विलुप्त नहीं होता। हमारी आज की शासन व्यवस्था भी तब अधिक न्यायसंगत रिलीजन निरपेक्ष व धर्म आधारित होती।

डॉ. चंचल

स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों के माध्यम से विधायन

विधायन की भारतीय प्रक्रिया उसी तत्त्व से अनुप्राणित है जो प्रकृति के संचालन का आधार है। इसे ऋत कहते हैं। एक अंतर्दृष्टि

भारतीय विधि का अंकुरण एवं भाव विस्तारण, प्राचीन भारतीय संस्कृति की समग्रता से जुड़ा हुआ है। भारतीय संस्कृति की समग्रता के विभिन्न अवयवों के विकास के प्रारंभिक क्रम में जहाँ ऋत, व्रत एवं सत्य के रूप में नैसर्गिक विधि प्रभावशाली रही है वहीं द्वितीयक क्रम में धर्म के रूप में प्रस्थापित सामाजिक विधि ने नैतिकता, सदाचार एवं लोकाचार के अविभाजिक स्वरूप के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को गतिशीलता प्रदान की है। भारतीय वाङ्मय ने विधिक नियमों, परंपराओं, आचार संहिताओं को स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों के क्रमबद्ध अवलोकन में विधायन को जीवित रखा है, जो व्यष्टि के जीवन के सभी पक्षों को परंपरा एवं विधिक नियमों के माध्यम से आत्म साक्षात्कार कराता है जिससे प्रशासनिक एवं वैधानिक जीवन के अनेक पक्ष उद्घाटित होते हैं।

प्राचीन भारतीय चिंतन में नैसर्गिक विधि का रूप ऋत की कल्पना में परिलक्षित होता है। ऋत से अभिप्राय निश्चित नियमों एवं उत्तम गमन से है जो सृष्टि विकास एवं प्रक्रिया में क्रमबद्धता को स्थापित करते हैं। ऋत के नियमों से सृष्टि एवं समाज दोनों ही क्रियाशील बने रहते हैं। ऋत में निहित स्वात्मवाद के परिज्ञान से परिचित समाज में अनुकूलता एवं स्थिरता स्थापित होती है। ऋत के सृष्टि नियमों की नियमबद्धता के कारण ही सूर्य एवं चंद्रमा नियमों से उदित एवं अस्त होते हैं, आकाशीय नक्षत्रों एवं तारों का मंडल अपने-अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा में क्रियाशील बने रहते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक वनस्पतियाँ-फल-पुष्प इत्यादि परिपक्व होते हैं। ऋत के ये नियम नित्य, अनादि एवं अनंत हैं, जो सर्वत्र व्यापक सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं जिनसे अखिल विश्व एवं देवगण भी शासित होते हैं और वे भी इन नियम-शक्तियों का उल्लंघन नहीं करते हैं। ऋत का विचार ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर उपलब्ध है जिसमें कहा भी गया है कि ऋत में स्वर्ग, उषा, सूर्य एवं ब्रह्मा का जो रूप प्रस्तुत है, उससे स्पष्ट होता है कि सभी कुछ ऋत में ही है और उसी से विकसित हुआ है।[1] इस प्रकार सृष्टि की नियमबद्धता ही ऋत है जिसके अनुपालन से न केवल सृष्टि संचालित हुई अपितु व्यक्ति ने प्रकृति एवं समाज के साथ अपने संबंधों को भी स्थापित किया है। पारस्परिक संबंधों के परिसंचालन के फलस्वरूप ही मानव-जीवन के लक्ष्यों का विस्तार हुआ है।

ऋत की सर्वोच्च शक्ति के द्वारा ही सत्य का प्रादुर्भाव हुआ है। संसार में जो कुछ भी नियम और व्यवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सभी सत्य के कारण ही हैं। किसी चीज का स्वरूप यदि सत्य है, तभी वह स्वीकार्य है। ऋत एवं सत्य के विचार प्रारंभिक काल से ही धार्मिक जीवन को अनुप्राणित करते रहे हैं। इसीलिए वैदिक ऋषियों की प्रार्थनाओं, मंत्रों, ऋचाओं एवं श्रुतियों में ये तीव्र स्वर सुनाई पड़ते हैं कि जैसे सूर्य निरंतर चलता रहता है, तुम भी वैसे ही निरंतर गतिशील बने रहो। निरंतर गतिशील बने रहने से ही तुम 'स्वादु उदुम्बर' (संसार के सुस्वाद काल) को प्राप्त कर सकोगे। इसी विचार को उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों ने 'चरैवेति-चरैवेति' निरंतर आगे बढ़े चलो कहकर अधिक विकसित किया है। ऋत और सत्य स्थिरता, क्रमबद्धता एवं निश्चितता के गुणों से परिपूर्ण हैं जो सामाजिक प्रगति में सहायक है।

प्रारंभिक समाजों की समस्त व्यवस्थाएँ ऋत से ही संचालित होती थी। सामाजिक नियम एवं व्यवस्थाएँ ऋत से ऊपर नहीं थीं। ऋत के नियम

जहाँ एक ओर समाज को व्यवस्थित कर रहे थे वहीं दूसरे छोर से मर्यादित जीवन के लिए नियंत्रण भी स्थापित कर रहे थे जिससे ऋत से सामाजिक विधानों का निर्माण हुआ जिसमें धर्म की भूमिका आधारभूत है। धर्म सत्य पर आश्रित है और वह समस्त संसार की समृद्धि एवं उन्नति में सहायक है। ऋत के साथ धर्म का प्रत्यक्ष संबंध था। सामाजिक आचार, सदाचार, परंपरा एवं व्यवहार के रूप में प्रस्तुत होने के कारण धर्म का लक्ष्यात्मक स्वरूप विकसित हुआ। कालांतर में धर्म के स्वरूप के समय-समय पर परिवर्तित होने के कारण वह लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति में सहायक कर्त्तव्यों का पर्याय बन गया और ऋत के प्राकृतिक नियमों से स्वयं संचालित समाज का स्थान धर्म ने ग्रहण कर लिया। जिसका संरक्षक राजा बन गया।

ऋग्वेद में एक ओर जहाँ राजा को ऋत एवं राष्ट्र का संरक्षक (राष्ट्रस्मुधार्य)[2] कहा गया है वहीं दूसरी ओर उसे (पायुविश:)[3] अर्थात् विश का पालनहारा कहा गया है। जनरक्षक (गोपाजनस्य) होने के कारण (विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु) अर्थात् विश के लिए वह प्रिय है।[4] ऐसा माना गया है। फलत: धर्म राज्य के अस्तित्व का मूल प्रयोजन है। राज्य की रचना में धर्म के रक्षण की परिकल्पना की गई थी। भारतीय स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों में राज्य से पूर्व जिस व्यवस्था का निरूपण किया गया है वह मात्स्य न्याय है जिसमें आचरण के निर्धारित मापदंडों और औचित्य के सार्वभौमिक मूल्यों की स्वार्थ अभिभावी तत्त्वों की बहुलता एवं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए भौतिक बलों का प्रयोग किया गया है। तत्समय औचित्य नैतिक और मूल्य आधारित मापदंडों की प्रवर्तित करवाने वाली राजसत्ता का अभाव था जो कि धर्म अनुपालन के निर्देश देकर मर्यादा को स्थापित कर सके। राज्य की उत्पत्ति से आदर्श राजव्यवस्था का आविर्भाव हुआ जिसमें राजा, धर्म, विधि एवं न्याय का संरक्षक है। यजुर्वेद संहिताओं में धर्म की तुलना राजा से की गई है। प्रजा के कल्याण में जो महत्व राजा का होता है वही स्थान धर्म का भी होता है। काठक संहिता में कहा गया है कि राजा प्रजा के अंतर्गत धर्म रूप में प्रतिष्ठित है। प्रजाओं के समक्ष वह धर्म रूप है। अपने-अपने शासन में, राष्ट्र में, गाँवों में, अपने अग्रगामियों में, वह धर्म रूप में स्थित होकर सभी का नियमन करता है। यजुर्वेद संहिता में धर्म राष्ट्र का प्रयोग व्यापक अर्थों तथा संदर्भ में किया गया है। धर्म, विधि, व्यवस्था तथा देवताओं के आदेश से भी संबंधित दिखाई देता है। यजुर्वेद के एक मंत्र में वर्णित है- कि हे इष्टदेव, सत्य व्यवहार की वृद्धि के लिए नियुक्त सूर्य की किरणों के समान विवेक द्वारा छिपी बातों को भी प्रकाशित करने में समर्थ विवेकी पुरुष द्वारा सत्य व्यवहार की राष्ट्र में वृद्धि करे। प्रजा को व्यवस्थित करने वाले कानून के निर्मित उत्तम विज्ञानयुक्त पुरुष द्वारा धर्म या व्यवस्था या कानून को उन्नत करे।[6] इस प्रकार धर्म से अभिप्राय उन नियमों एवं कानूनों से है जो प्रजा को व्यवस्थित करके एक आदर्श समाज की स्थापना करते हैं।

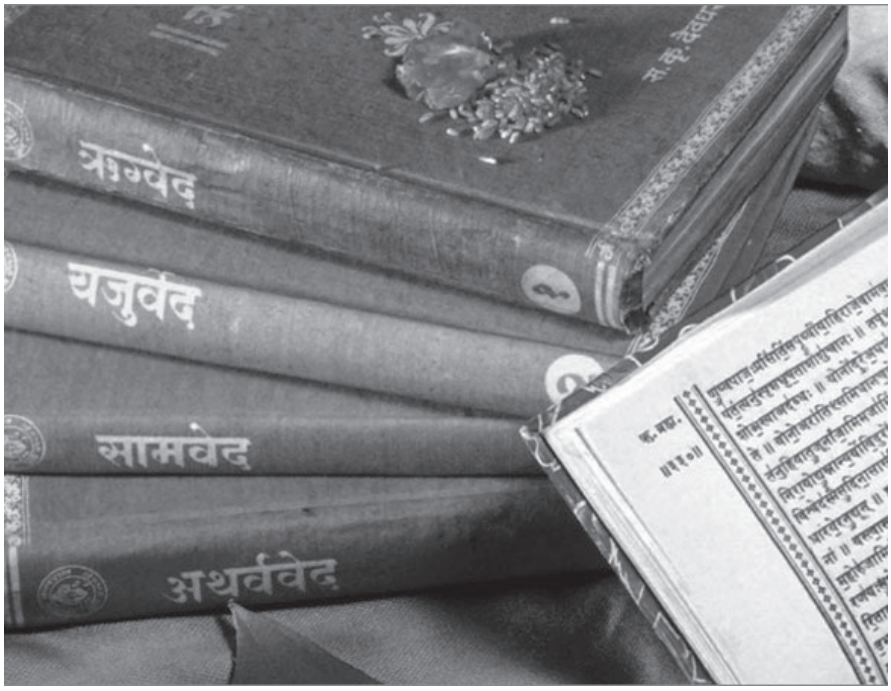

भारतीय स्मृतियों एवं संहिताओं के वर्णित प्रारंभिक समाजों के जितने भी स्वरूप विद्यमान हैं उन सभी में विधि का स्थान प्रथमत: है। विधि से ही समाज का निर्माण होता है और विधिक परंपरा का अनुसरण करने से ही राज्य क्रियान्वित होते हैं। वास्तव में समाज के नियमन, नियंत्रण एवं संचालन में विधि का स्थान सर्वोपरि है। राज्य में राजा, राजा के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण जिन विशेष शक्तियों को प्राप्त करता है, वह सभी समाज की पारस्परिक सहमति की देन हैं इसीलिए राजा विधि का निर्माता न होकर विधि का संरक्षक है। प्राचीन भारत में विधि-निर्माण के आधार धार्मिक एवं लौकिक दोनों ही हैं। धार्मिक विधि के स्रोत शास्त्र, श्रुति एवं स्मृतियाँ हैं जबकि लौकिक विधि में प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों को मान्यता प्रदान की गई है। श्रुति एवं स्मृति में विहित आचरण को धर्म माना गया है।[7] मनु कहते हैं कि राजा को जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म एवं कुलधर्म के अनुसार ही अपने कार्यों का संपादन करना चाहिए।[8] मनु कहते हैं कि राजा को सदैव सनातन धर्म का आश्रय लेते हुए ही मनुष्यों के कार्यों को करना चाहिए।[9] इस दृष्टि से मनु ने राजा को विधि-निर्माण के लिए मनुस्मृति में धर्म के चार स्रोत - वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रियता अर्थात मन का प्रसन्नता बताए हैं। मनु कहते हैं कि राजा को जातिधर्म, देश धर्म, श्रेणी धर्म एवं कुल धर्म के अनुसार ही अपने कार्यों को सम्पादित करना चाहिए।[10] राजा को सदैव सनातन धर्म का आश्रय लेते हुए ही मनुष्यों के कार्यों को करना चाहिए। मनुस्मृति में मनु विधि-निर्माण का कार्य राजा को नहीं सौंपते हैं। राजा विधि निर्माता न होकर विधि का संरक्षक है। भीष्म पितामह ने विधि-निर्माण के चार स्रोत - देवस्रोत, आर्षस्रोत, लोकस्रोत एवं सम्मतस्रोत बताए हैं।[11] देव स्रोत में स्वयं ब्रह्मा द्वारा निर्मित

विधियाँ हैं। आर्ष स्रोत में ऐसे नियम हैं जिन्हें मानव जीवन को देशकाल और परिस्थिति के अनुसार अनुशासित करने के लिए ऋषि, मुनियों, बृहस्पति, शुक्र एवं स्वयं भीष्म ने बनाया था। लोक सम्मत स्रोत में विधियों का निर्माण जनता[12] की सम्मति से हुआ है। सम्मत स्रोत प्राचीनकाल की संस्था द्वारा निर्मित नियम तथा कुल जाति धर्म एवं देश धर्म पर आधारित हैं। ये सभी प्रथाएँ जब कालांतर में राज्य द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर लेती हैं तब ये विधि का स्वरूप धारण कर लेती हैं।

आचार्य कौटिल्य ने विधि-निर्माण की चार परिस्थितियों धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजाज्ञा का वर्णन करते हुए कहा कि ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पाद (पैर) हैं। इन्हीं पर समस्त धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र की अपेक्षा राजाज्ञा श्रेष्ठ है।[13] कौटिल्य के अनुसार धर्म सत्य में, व्यवहार साक्षियों में, चरित्र समाज के जीवन में एवं राजाज्ञा राजकीय शासन पर आश्रित रहती है। राजा को इन चार परिस्थितियों के आधार पर ही विवादों का निर्णय करना चाहिए। आचार्य शुक्र ने भी विधि के आधारों में श्रुति, स्मृति और आचार को स्वीकृति प्रदान की है। साथ ही इनके अतिरिक्त राजाज्ञा को विधि का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत माना है। शुक्र के अनुसार राजा को प्रतिदिन शास्त्र की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। साथ ही कुलधर्म, जातिधर्म, राष्ट्रधर्म और त्रयी धर्म का अनुपालन करते हुए देश, जाति और कुलों के धर्मों का अनिवार्यत: पालन करना चाहिए। ऐसा न करने से प्रजा असंतुष्ट हो जाती है।[14]

अतएव प्राचीन भारत में धर्म, आचार, चरित्र और राजा राजाज्ञा के संयोजन की आधारशिला से विधि की रचना हुई है। प्राचीन भारतीय विधि का मुख्य स्रोत समाज है। उस पर ही श्रुति, स्मृति एवं सदाचार अपनी स्वीकृति व्यक्त करता रहा है। इसीलिए विधि समाज से विकसित होकर समाज के लिए विधान प्रस्तुत करने में सर्वोच्च हो जाती है।

प्राचीन भारत में प्रजा के जीवन को सुरक्षित एवं संरक्षित करने में राज्य का अग्रणी योगदान है। राज्य की उन्नति केवल तभी संभव है जब प्रजा को स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय समान रूप से उपलब्ध हों। राज्य में

प्राचीन भारत में प्रजा के जीवन को सुरक्षित एवं संरक्षित करने में राज्य का अग्रणी योगदान है। राज्य की उन्नति केवल तभी संभव है जब प्रजा को स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय समान रूप से उपलब्ध हों। राज्य में न्याय का समान वितरण करना एवं प्रजाजनों को अपने न्याय से संतुष्ट करना राजा का प्राथमिक कर्तव्य है। राज्य में राजा राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि सर्वप्रथम राजा की प्राप्ति करनी चाहिए। तब पत्नी और उसके उपरांत धन का संचय करना चाहिए; क्योंकि राजा के अभाव में न तो पत्नी रहेगी और न धन, न अन्य परिगृह ही रह पाते है

न्याय का समान वितरण करना एवं प्रजाजनों को अपने न्याय से संतुष्ट करना राजा का प्राथमिक कर्तव्य है। राज्य में राजा राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि सर्वप्रथम राजा की प्राप्ति करनी चाहिए। तब पत्नी और उसके उपरांत धन का संचय करना चाहिए; क्योंकि राजा के अभाव में न तो पत्नी रहेगी और न धन, न अन्य परिगृह ही रह पाते हैं।[15] प्राचीन राजव्यवस्था में राजा के ऊपर न्याय करने का उत्तरदायित्व था, इसीलिए वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी है। राजा के द्वारा ही न्यायालयों का संगठन, न्यायाधीशों एवं पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। राजा न्यायाधीशों को पदों से पदच्युत कर सकता था तथा विभिन्न न्यायालयों में विभिन्न न्यायालयों के द्वारा निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी राजा को ही था। राजा राज्य में न्याय विधिक नियमों के अनुरूप ही न्याय को धारण करता है। वैदिक युग में राजा धर्मास्थ था जो विधि का निर्माता था और व्यवहारों को देखता था। स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में न्यायाधीश पद की अनिवार्य योग्यताओं का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि न्यायाधीश वह व्यक्ति होना चाहिए जो बाहरी चिह्नों, स्वर, वर्ण, इंगित, आकार, नेत्र और चेष्टा, भाषण, मुख के विकारों से मनोभाव को जानकर निर्णय कर सके। वह अर्थ-अनर्थ और केवल धर्म एवं अधर्म को भलीभाँति जानकर वर्णक्रम से न्यायप्रार्थियों के सब कार्यों को करे।[16] आपस्तंब धर्मसूत्र में वर्णित है कि न्यायाधीश को विद्वान, पवित्र, उत्तम कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्ककुशल और कर्तव्यपालन में सावधान होना चाहिए। इन गुणों से युक्त व्यक्ति को न्यायाधीश बनाया जा सकता है। स्मृतियों धर्मसूत्रों एवं संहिताओं में राजा राजा न्याय को सर्वोच्च अधिकारी है जो न्याय के अनुरूप ही यथोचित दंड का धारण करता है।[17] याज्ञवल्क्य स्मृति में न्याय को राजा का प्रमुख धर्म माना गया है। मनु कहते हैं कि भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही मार्गों में न्याय की शक्ति बाधक है। उसे दूर करना ही राजा का धर्म है।[18] यथोचित न्याय व्यवस्था में राजा की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी जो विधिसम्मत राज्य की परिकल्पना को साकार करने के लिए न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता है। न्यायिक प्रशासन में व्यवहार के अवलोकन में विधि महत्त्वपूर्ण है। विधि पूर्ण शासन में राजा व्यक्तिगत भावनाओं से अभिभूत हुए बिना निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था करता है। आचार्य शुक्र का मत है कि राजा परंपरागत और वेदशास्त्र आदि द्वारा प्रतिपादित धर्मों को दृष्टिगत रखते हुए ही वादों पर निर्णय करे।[19] राजा न्यायिक प्रशासन में न्यायाधीशों की नियुक्ति, कार्य एवं व्यवहार संबंधी कार्यों को विधि के आधार पर ही पूर्ण किया करता है। इस प्रकार विधि के द्वारा ही शासन नियंत्रित होता था जो लोककल्याण का प्रतीक है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में मनुष्य का समग्र जीवन विधि के अधीन था। मानवीय जीवन का ऐसा कोई पक्ष शेष नहीं था जिसको नियमबद्ध एवं नियमानुकूल करने के लिए विधियों का अनुसरण न किया गया हो। विधि निर्माण एवं विधियों के संशोधन में परंपराओं, मान्यताओं एवं स्वीकृतियों का विशेष महत्त्व था। राज्य में राजा विधि का निर्माता न होकर विधि का रक्षक था। महाभारत में ऋषियों ने राजा को शपथ लेने के लिए आदेश दिया

था- हे परंतप, तुम मन, वचन और कर्म से ऐसी शपथ लो कि दंडनीति के अनुकूल जो नित्य धर्म ऋषियों ने बताए हैं, तुम उनका सर्वदा नि:शंक होकर पालन करोगे और कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं होगे।[20] इस दृष्टि में विधि का सर्वोच्च स्थान है।

राज्य में राजा का उत्तरदायित्व राज्य की विधियों के अधीन था। राजपद जैसा महत्त्वपूर्ण पद पूर्णत: नियमों से अवलंबित था। राज्य में राजा पद पर व्यक्ति तभी तक सुशोभित रह सकता था जब तक कि वह राज्य की विधियों का वास्तविक अनुपालन करता था। राजा की नियुक्ति सभा एवं समिति जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के अधीन थी जो राजा को राजसिंहासन पर सुशोभित भी कर सकती है और राजा को पदच्युत भी कर सकती थी। राजपद की प्राप्ति के निश्चित नियमों में प्रजा द्वारा स्वीकृति, राज्याभिषेक और राजकीय शपथ प्रत्येक परिस्थिति में धर्मानुकूल आचरण के लिए राजा को प्रेरित करते हैं। राज्य में राज्याभिषेक का संस्कार पूर्णत: जनतंत्रात्मक था जिसमें प्रत्येक वर्ग एवं हित के प्रतिनिधि की उपस्थिति अनिवार्य थी जो राजा को राजपद देने की अनुमति प्रदान करते थे। इस प्रकार राज्य में राजा को राजपद कुछ प्रतिबंधों के साथ प्रदान किया जाता था। जब तक राजा प्रतिबंधों का अनुपालन करता था तब तक वह सम्मान योग्य था। जब वह प्रतिबंधों के नियमों का उल्लंघन करता था तब वह स्वयं ही नष्ट हो जाता था और उसके स्थान पर योग्य व्यक्ति को राजपद प्रदान किया जाता था। प्राचीन भारतीय परंपरा पूर्णत: विधि संपन्न थी जिसमें श्रेष्ठ स्थान विधि का ही था। विधि संपन्न राज्य की परिकल्पना को साकार करना एक मुख्य उद्देश्य था। प्राचीन भारतीय स्मृतियों, संहिताओं तथा धर्मसूत्रों में राजा राज्यों में कार्यकारिणी का सर्वोच्च पदाधिकारी है जिसका प्राथमिक दायित्व राजकार्यों के सहयोग के लिए मंत्रिपरिषद का गठन करना है। राज्य में विधियों के शासन को स्थापित करने के लिए मनु कहते हैं कि सरल से सरल कार्य भी अकेला पुरुष करने में सिद्ध नहीं होता तो विशेष फल देने वाले राज्य संबंधी कार्य अकेला मनुष्य कैसे सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है।[21] मंत्रियों की सम्मति की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि राजा को प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य मंत्रिपरिषद के परामर्शनुसार ही संपन्न करने चाहिए और संदिग्ध और विवादग्रस्त विषयों में जो बहुमत द्वारा समर्पित है उसी के अनुसार ही करने चाहिए।[22] राजा को सदैव अपने अधिकारीगण, अमात्य, मंत्रिगण और अध्यक्षजनों की सम्मति से ही राजकार्यों को संपादित करना चाहिए क्योंकि राजा की स्वेच्छाचारिता से राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। राज्य के आदर्श संचालन एवं सुसंगठित स्वरूप के लिए आवश्यक है कि राजा सत्यमंत्रणा से कार्यों को संपादित करे।

प्राचीन भारतीय परंपरा में राज्यों की विधान पद्धति ने विधि अनुकूल शासन की स्थापना के लिए राजा को यह अधिकार कदापि प्रदान नहीं किया था कि वह मंत्रिपरिषद द्वारा प्राप्त सम्मति को अस्वीकार कर दे। इसीलिए कौटिल्य कहते हैं कि राज्य के सभी कार्य मंत्रियों की उपस्थिति में ही होने चाहिए यदि कोई अनुपस्थित हो तो उसकी सम्मति लिखकर माँग लेनी चाहिए। आकस्मिक घटना या किसी बडे भय के समय राजा को अपनी छोटी मंत्रिपरिषद एवं बडी मंत्रिपरिषद के मंत्रियों को बुलावा भेजना चाहिए और जो बहुमत से निर्णय हो उसे ही कार्यान्वित करना चाहिए।[23] महाभारतकाल में मंत्रियों से अपेक्षा की गई है कि वह मनोयोगपूर्वक विचार करने के पश्चात ही राजा को उचित परामर्श दें, क्योंकि उनके परामर्श ही राज्य की उन्नति तथा प्रजा को अपने अनुकूल बनाने के प्रमुख आधार हैं।[24] इस प्रकार मंत्रिपरिषद के सहयोग से राजा शासन संबंधी कार्यों का संचालन करता था। मंत्रिमंडल की सम्मति को आदेश में परिगणित करने में शासन का जो रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुआ है वह पूर्णत: निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता के विपरीत तथा नियमानुकूल एवं विधिसंपन्न है।

प्राचीन भारतीय स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों में विधि और विधान को स्पष्ट करने का सबसे बड़ा पदाधिकारी पुरोहित है। महाभारत में पुरोहित के कार्यों की मीमांसा में लगने एवं असत्कार्यों से दूर रखने के दायित्वों को महत्त्वपूर्ण माना है।[25] कौटिल्य कहते हैं कि जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भृत्य चलता है, वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए। शुक्र की दृष्टि में पुरोहित का मुख्य कार्य शासन को नियंत्रित रखना है। यही उसके पद की एवं पद के साथ जुड़ी हुई प्रतिष्ठा का आधार है।[26] मनु तो पुरोहित पर राजा के नियंत्रण की व्यवस्था भी करते हैं। उनके अनुसार यदि पुरोहित राज्य एवं समाज के विपरीत कार्य करे तो राजा उसे अमात्यों एवं न्यायाधीशों के समान ही दंडित करे।

प्राचीन भारतीय स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों में वर्णित विधायन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानव-जीवन को अनुशासित एवं नियंत्रित करने के लिए जो नियम बनाए गए थे, उन्होंने विधि का रूप धारण कर लिया था। इन नियमों से राज्य पूर्णत: विधिपूर्ण था जिसमें राजा एवं प्रजा के कर्तव्यों एवं अधिकारों का निरूपण किया गया था। राजा विधि का निर्माता न होकर विधि संरक्षक था। राज्य में विधि का बाहुल्य था। मनुष्य के कार्यक्षेत्र में अंतिम निर्णय देने का कार्य विधि ही किया करती थी जिसका लौकिक एवं पारलौकिक महत्त्व था। लौकिक महत्त्व के अंतर्गत प्रजा यह अनुभव करती थी कि समाज विधि के अनुरूप ही शासित हो रहा है। विधि सबसे ऊपर है

प्राचीन भारतीय स्मृतियों, संहिताओं एवं धर्मसूत्रों में विधि और विधान को स्पष्ट करने का सबसे बड़ा पदाधिकारी पुरोहित है। महाभारत में पुरोहित के कार्यों की मीमांसा में लगने एवं असत्कार्यों से दूर रखने के दायित्वों को महत्त्वपूर्ण माना है। कौटिल्य कहते हैं कि जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भृत्य चलता है, वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए। शुक्र की दृष्टि में पुरोहित का मुख्य कार्य शासन को नियंत्रित रखना है। यही उसके पद की एवं पद के साथ जुड़ी हुई प्रतिष्ठा का आधार है

और विधि ही उनके व्यवहार को नियंत्रित कर रही है। पारलौकिक महत्त्व में विधि का निर्माण स्वयं ब्रह्मा ने किया है। ब्रह्मा की आज्ञा की अवहेलना करने से प्रजा धर्म से विचलित होती है जो उनकी पारलौकिक अवनति का कारक बन सकता है। इसीलिए प्रजा अपने ऊपर राजा की वैधता को विधि की प्रधानता के संदर्भ में स्वीकार करती है। भारतीय परंपरा में राजा सर्वोच्च अधिकारी होते हुए भी समाज व धर्म द्वारा स्थापित विधि के अधीन है जिसके आदेश एवं निर्देश प्रजा पर समान रूप से लागू होते हैं। राज्य में राजा स्वेच्छाचारी न होने पाए इसके लिए धर्म, पुरोहित, मंत्रिपरिषद, दिनचर्या, स्थानीय संस्था, जनमत और विधि की प्रधानता की आदर्श व्यवस्था थी।

वस्तुतः भारतीय शास्त्र परंपरा में विधायन की प्रक्रिया किसी भी प्रकार से कार्यपालिका अथवा न्यायपालिका से संबद्ध नहीं रही है। राजा और उसकी मंत्रिपरिषद तथा सभासद भी न्यायोचित, धर्म सम्मत, लोक स्वीकृत, समाज हितकारक तथा मूल्य आधारित स्थापित तथा परीक्षित विधि का परिपालन सुनिश्चित करते थे। वर्तमान राजनैतिक व प्रशासनिक उपकरणों ने अभिलेखों के माध्यम से जो शक्ति पृथक्करण किया हुआ है वह समकालीन विधिक अपेक्षाओं का परिणाम है। भारतीय पारम्परिक विधायन के महत्वपूर्ण तत्वों की अद्यतन प्रासंगिकता भी दंड, न्याय, प्रशासन तथा विधि के मानवीय, संवेदनशील, धर्म-सम्मत, समाजोपयोगी एवं लोकहितकारी मंतव्यों की निरंतरता में है। यही वर्तमान विधि निर्माताओं का मार्गदर्शक सिद्धांत भी बन सकता है और यही सहस्रों वर्षों की अक्षुण्ण सनातन शाश्वत परंपरा का विद्यमान पाथेय भी।

संदर्भ

1. ऋग्वेद 4/22/9
2. ऋग्वेद 7/66/13
3. ऋग्वेद 4/4/3
4. ऋग्वेद 3/4/35/ , 10/113/1
5. काठक संहिता 38/4
6. रश्मिना सत्या सत्यं जिन्व प्रतिना। धर्मणा धर्म जिन्वान्विल्या दिवा दिवं जन्व।। मा0 स0 15.6/का0 सं0 16.2.1
7. आयुर्वेदालंकार, कृष्णकुमार, 'प्राचीन भारत का संविधान तथा न्याय व्यवस्था, 'राष्ट्रीय संस्कृतसंस्थानम् मानित विश्वविद्यालयः नव दहेली, प्रथम संस्करण 2005, पृ0 74
8. मनुस्मृति, 2/12
9. मनुस्मृति 8/41
10. मनुस्मृति 8/8
11. महाभारत शान्तिपर्व 59/29
12. महाभारत शान्तिपर्व 59/86
13. कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/1/2
14. शुक्रनीतिसार 4.5.45-46
15. महाभारत शान्तिपर्व 57/41
16. मनुस्मृति 8/24
17. विवादे विद्याभिजन सम्पन्ना वृद्धा मेधाविनो धर्मष्पतिनिपतिनः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.11.3
18. मनुस्मृति 7/12-14
19. शुक्रनीतिसार 4.5.45
20. महाभारत शान्तिपर्व 106/59
21. मनुस्मृति 7/55-56
22. कौटिल्य अर्थशास्त्र 10/4
23. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, (द्वितीय भाग) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, 1992, पृ0 626
24. महाभारत शान्तिपर्व 83/24
25. महाभारत शान्तिपर्व, 72/1
26. शुक्रनीति, 2/82

फार्म-4

'मंथन' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे

प्रकाशन स्थान	:	नई दिल्ली
प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
मुद्रक	:	ओसियन ट्रेडिंग को.
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	शाहदरा, दिल्ली
प्रकाशक एवं स्वामी	:	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा एवं एकात्म मानवदर्शन अनुसंधाान एवं विकास प्रतिष्ठान
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
संपादक	:	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

मैं डॉ. महेश चन्द्र शर्मा एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में ठीक है।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
प्रकाशक

तिथिः 1 मार्च, 2024

डॉ. मजहर आसिफ

भारत पर मध्यकालीन आक्रमणों का परिणाम शरीअत और विधि

आस्था और मान्यता के आधार पर शरीअत मानव समाज को दो स्पष्ट समूहों में बाँटती है। दूसरी तरफ, विधि धर्म और दर्शन पर आधारित है। एक तुलनात्मक अध्ययन

भारत को विश्वगुरु इसलिए नहीं कहा जाता था कि हम युद्ध में या सशस्त्र युद्धक सामग्री अथवा घातक अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में या धोखे-फरेब में या फिर छल-प्रपंच में अग्रणी थे, बल्कि इसलिए कि हमारी नैतिकता, हमारे ज्ञान, हमारी परंपरा, हमारे बुद्धि-विवेक और हमारे दर्शन ने हमें शाश्वत और सार्वभौमिक बना दिया है। हमने अपने ज्ञान के आलोक से विश्व को अंधकार और गुमनामी से बाहर निकाला है। हमारे संतों, महात्माओं ने अपने घोर आध्यात्मिक अभ्यासों से विश्व को ज्ञान दिया है। अनादिकाल से ही वसुधैव कुटुम्बकम की अवधारणा में हमारा दृढ़ विश्वास रहा है। हमारे लिए, समस्त विश्व हमारा घर और समस्त मानव जाति हमारा परिवार है। इस विश्व के अस्तित्व को बचाए रखने की कामना से हमने सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः मंत्र की अवधारणा दी है। यह तथ्य उल्लेखनीय है, और इतिहास भी इसका साक्षी है कि भारत ने अपने इतिहास के किसी भी कालखंड में किसी अन्य देश पर आक्रमण नहीं किया है।

भारत जीवन के हर क्षेत्र में सदैव एक आत्मनिर्भर, एक स्वावलंबी देश रहा है। हमारा सिद्धांत सदियों से जीयो और जीने दो का रहा है। इस शांतिपूर्ण विचार से हमें आध्यात्मिक शक्ति मिली, जिसके बल पर हम अपनी पहचान और धर्म को कायम रखने में सफल रहे हैं, अन्यथा सनातन सभ्यता की समकालीन सभी सभ्यताएँ या तो पृष्ठ से मिटा दी गईं या फिर उनके नाम बदल दिए गए। दुर्भाग्यवश, लोकोपकार की हमारी भावना, हमारे अच्छे विचार, हमारी सत्यशीलता, हमारा सौंदर्य और हमारी अपार संपदा सब हमारे लिए एक अभिशाप बन जाते हैं। यही कारण था कि समस्त विश्व के लोग हमें बड़ी हसरत से देखते थे। किंतु, बढ़ते समय के साथ, यह लालसा ईर्ष्या और शत्रुता में बदलती गई। फलस्वरूप, भारत को सदियों से विदेशी शासकों के अनेकानेक आक्रमणों का सामना करना पड़ा है और लगभग दो सौ बार उन्होंने इस देश पर कब्जा करने और इसे लूटने की कोशिश की है।

मध्यकालीन आक्रमण उल्लेखनीय है कि दूसरे खलीफा हजरत उमर के समय में इस्लाम की विस्तारवादी नीति के तहत पहली बार इस्लाम को अरब प्रायद्वीप से बाहर जाने का एक अवसर मिला। और 633 में नेहवंद की और फिर 636 में कदासिया की लड़ाई के बाद इस्लाम ने सासानी राजवंश के अंतिम शासक यजगर्द तृतीय को हराकर ईरान में प्रवेश किया। अरबों ने, जिनकी सभ्यता और संस्कृति बहुत समृद्ध नहीं थी, जब ईरान में प्रवेश किया, तो ईरान की संस्कृति, उसकी महँगी जीवन शैली, उसके प्रताप और महिमा को देखकर चकित रह गए। इसलिए, अपने सामाजिक और प्रशासनिक जीवन के प्रायः हर पहलू में उन्होंने फारसी संस्कृति को अपनाना शुरू कर दिया। वे लोगों का स्वागत-अभिवादन और राजा को प्रणाम करने के साथ-साथ संगीत और नृत्य कार्यक्रमों के आयोजन आदि जैसे सासानी दरबार के रीति-रिवाजों का अनुसरण करने लगे। ये सब धीरे-धीरे इस्लामी दरबार का अंग बन गए, जो अब बगदाद में कायम हो चुका था। कहा जा सकता है कि अब इस्लामी शासन के सभी प्रशासनिक विभागों का फारसीकरण हो चला था।

किंतु, ईरान हमारा पड़ोसी रहा है, इसलिए भारत पर उसके इस्लामीकरण का प्रभाव पड़ना लाजिमी था। भारत के इतिहास पर मुसलमानों के अक्रमाणों का कई दशकों तक गहरा प्रभाव रहा है। आठवीं शताब्दी के आरंभ में मुहम्मद बिन कासिम की विजय के बाद से भारत के इतिहास पर मुसलमानों के आक्रमणों का कई दशकों तक गहरा प्रभाव रहा, जिसका अंत सोलहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की

स्थापना के साथ हुआ। भारत पर मध्यकाल में आक्रमण करने वाले अधिकांश आक्रमणकारी ज्यादातर अफगान और तुर्क थे। उनके आक्रमण का मुख्य उद्देश्य भारत के अपार धन को लूटना और वहाँ इस्लाम का प्रसार करना था।

भारत पर मध्ययुगीन आक्रमण का पहला लिखित इतिहास उमय्यद खिलाफत के सर्वाधिक प्रसिद्ध सूबेदार हज्जाज बिन युसुफ के समय में मिलता है, जिसे खलीफा अब्द अल-मलिक (685-705) ने हिजाज और खिलाफत के पूर्वी भागों का सूबेदार बनाया था। 694 में, उसने पहली बार अब्दुल्ला असलमी को 6 हजार सैनिकों के साथ सिंध भेजा। सिंध पहुँचने पर अब्दुल्ला राजा दहर की सेना से लड़ते हुए मारा गया और यह अभियान विफल हो गया। दूसरी बार, हज्जाज ने बादिल नाम के एक सरदार को बहाल कर उसे छह हजार सैनिकों के साथ डिबिल भेजा।[1] वह भी हार गया और मारा गया। किंतु, इन दोनों अभियानों की विफलता से उसका मनोबल और संकल्प क्षीण नहीं हुआ, बल्कि इसके विपरीत, भारत की संपत्ति को लूटने और भारत की इस पवित्र भूमि पर इस्लाम का झंडा फहराने की अपनी प्रबल इच्छा के वशीभूत उसने मुहम्मद बिन क़ासिम को सिंध को जीतने के अपने तीसरे अभियान की बागडोर देकर भेजा। जून 712 ई. में, मुहम्मद बिन क़ासिम ने राजा दहर को परास्त कर सिंध पर कब्जा किया। इस प्रकार, यहाँ से भारत के लिए इस्लाम के दरबाजे खुल गए। मुसलमान इतिहासकार सिंध को इस्लाम का बाब कहते हैं। सिंध पर कब्जे के बाद मुहम्मद बिन क़ासिम अपनी मातृभूमि लौट गया, किंतु सिंध के सौंदर्य और अपार संपत्ति को देखते हुए कुछ सैनिकों ने भारत में रहने का फैसला किया। उनमें से कई ने सिंधी महिलाओं से विवाह कर लिया और स्थायी रूप से सिंध में बस गए। हालांकि यह अभियान अल्पकालिक रहा, किंतु इसने इस्लामी और भारतीय संस्कृतियों के बीच भावी संबंधों के लिए एक आदर्श तैयार किया और आने वाले समय में मुस्लिम विजय की आधारशिला रखी। ऐसे में, अन्य आक्रमणकारियों ने भी भारत पर शीघ्र ही आक्रमण करना शुरू कर दिया। जिस देश ने समस्त विश्व को शांति और सद्भाव का संदेश दिया था, वह अब आक्रमणकारियों की लूट और हत्या का क्षेत्र बन गया।

सन् 1000 से 1027 के बीच महमूद गजनी ने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किए और प्रत्येक आक्रमण में उसने मंदिरों को न केवल लूटा बल्कि नष्ट भी कर दिया और लूट की संपत्ति से उसने अफगानिस्तान में अपनी राजधानी बनाकर उसका साज-सिंगार किया। महमूद का मुख्य उद्देश्य नई जमीन पर कब्जा करने के साथ-साथ अपार सौभाग्य का संग्रह करना भी था; भारत के प्रसिद्ध मंदिरों में भरे पौराणिक खजाने के प्रति उसका आकर्षण उसे आक्रमण के लिए प्रेरित करता और वह अपने आक्रमण में सफल होता था। गुजरात के सोमनाथ मंदिर की घेराबंदी महमूद की विजय में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई। महमूद के दरबारी कवियों फर्रोखी, उनसुरी और गोर्देजी आदि ने सोमनाथ की लूट का बहुत गुणगान किया है।[2] भारतीय उपमहाद्वीप पर इन आक्रमणों का सांस्कृतिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से एक चिरस्थायी प्रभाव पड़ा।

अफगानिस्तान में गोरी राजवंश के शासक गयास-उद-दीन की मौत सन् 1203 में हुई। उसकी मौत के बाद, उसका छोटा भाई मुहम्मद गोरी उसका उत्तराधिकारी बना और लोगों पर भारी कर लगाए। फलतः, स्थानीय लोग उससे घृणा करने लगे। करों में इस वृद्धि के कारण लोगों में रोष उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। उसने आय अर्जन का हर संभव प्रयास किया, किंतु असफल रहा। उस समय भारत में संपत्ति अपार थी, इसलिए लूट के ध्येय से उसने सन् 1175 में भारत पर आक्रमण किया। मुलतान और पंजाब पर विजय के बाद वह दिल्ली की ओर बढ़ा। उसने भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज चौहान से तराइन में सन् 1191 में और फिर 1192 में युद्ध किया। तराइन के दूसरे युद्ध में गोरी की जीत ने उसके लिए भारत में मुस्लिम शासन को आगे बढ़ाने का मार्ग खोल दिया। हेरात (अफगानिस्तान) से पश्चिम बंगाल तक उसका साम्राज्य था। उत्तरी भारत में राजनैतिक परिवेश पर घुरिद राजवंश के उदय और तदनंतर दिल्ली सल्तनत की स्थापना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस काल में भारत में मोइनुद्दीन चिश्ती का आगमन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी, जिसका उल्लेख इतिहास में दर्ज है। आगे चल कर भारत की सामाजिक-धार्मिक स्थिति पर चिश्ती का गहरा प्रभाव पड़ा।

झेलम के पास 15 मार्च, 1206 को मोहम्मद गोरी की हत्या के बाद कुतुब-उद-दीन ऐबक ने जून, 1206 में लाहौर में गद्दी पर बैठने की घोषणा की और दिल्ली में इस्लामी शासन की स्थापना करने वाला पहला मुस्लिम बादशाह बना। इसी इस्लामी शासन को आगे चल कर दिल्ली सल्तनत कहा जाने लगा। इसमें अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करते हुए अलग-अलग राजवंशों ने अलग-अलग तरीके से योगदान किया और इस प्रकार सल्तनत के मार्ग और भारत के इतिहास के भावी विकासक्रम को दिशा देने में सहायता मिली।

बख्तियार खिलजी ने, जो गोरी का गुलाम और कुतुबुद्दीन का सेनापति भी था, असम, बिहार और बंगाल जैसे पूर्वी भारत के राज्यों पर आक्रमण कर इस्लाम का विस्तार किया। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय को आग लगा दी और उत्तर-पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म का अंत भी उसी ने किया। सन् 1260 में मिन्हाज सेराज लिखित तबकात नासिरी और 1695 में शहाबुद्दीन तालीश लिखित तारीखे आशम और कन्हाई-बोरोक्सिया शिलालेख जैसे फारसी इतिहास के अनुसार, वह पहला मुसलमान था, जिसने आहोम के आक्रमण से बहुत पहले सन्

अफगानिस्तान में गोरी राजवंश के शासक गयास-उद-दीन की मौत सन् 1203 में हुई। उसकी मौत के बाद, उसका छोटा भाई मुहम्मद गोरी उसका उत्तराधिकारी बना और लोगों पर भारी कर लगाए। फलतः, स्थानीय लोग उससे घृणा करने लगे। करों में इस वृद्धि के कारण लोगों में रोष उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। उसने आय अर्जन का हर संभव प्रयास किया, किंतु असफल रहा। उस समय भारत में संपत्ति अपार थी, इसलिए लूट के ध्येय से उसने सन् 1175 में भारत पर आक्रमण किया। मुलतान और पंजाब पर विजय के बाद वह दिल्ली की ओर बढ़ा

1206 में असम पर आक्रमण किया और वहाँ मुस्लिम उपनिवेशों की स्थापना की। वस्तुत:, बख्तियार खिलजी असम के रास्ते तिब्बत और तुर्किस्तान पर आक्रमण करना चाहता था, किंतु उसके अपने ही कमांडर अली मर्दान खान ने उसकी हत्या कर दी।[3] असम के इस आक्रमण की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना कुच और मिच जनजातियों के सरदारों में से एक, अली मिच का धर्मांतरण था। आज के असम के मुसलमान उनके वंशज हैं, जिन्हें थलुआ, आहोमिया मुसलमान या खिलोंजिया मुसलमान कहा जाता है।[4] उस काल में भारत को एक समृद्ध क्षेत्र माना जाता था। इसलिए, अन्य आक्रमणकारियों की तरह तैमूर का मुख्य उद्देश्य इस देश में शासन कायम करना नहीं बल्कि उसकी संपत्ति को लूटना था। अपनी आकांक्षा को पूरा करने लिए, तैमूर ने 1399 में दिल्ली पर आक्रमण किया। दिल्ली सल्तनत के सुल्तान नसीरुद्दीन महमूद तुगलक को परास्त करने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। महमूद डर गया और दिल्ली से भागकर जंगलों में छिप गया। उसके बाद, तैमूर ने दिल्ली की सड़कों पर हत्याओं और क्रूरता का तांडव मचाया जो अपने आप में एक क्रूरतम घटना थी।[5]

बाबर का जन्म मध्य एशिया में अंदीजान (वर्तमान उज्बेकिस्तान) में हुआ था और वह चंगेज खान व तैमूर का वंशज था। एक बड़े साम्राज्य की स्थापना और धन संग्रह करना उसका चिर सपना था। इस सपने को साकार करने के लिए, उसने समरकंद और फरगना पर कब्जा कर भारत पर आक्रमण किया। सरहिंद होते हुए बाबर दिल्ली की ओर बढ़ा। वह 20 अप्रैल, 1526 को पानीपत पहुँचा और वहाँ उसने इब्राहिम लोदी की सेना का मुकाबला किया। एक विशाल सेना के होते हुए भी, लोदी राजवंश के इस अंतिम राजा को एक भारी हार का सामना करना पड़ा। भारत के इतिहास में यह युद्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बाद देश में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई, जो लगभग तीन सौ वर्षों तक कायम रहा।[6] महमूद गजनवी, गोरी और तैमूर को छोड़कर विजेता के रूप में भारत आए सभी आक्रमणकारियों ने पूरे मन से भारत को अपनाया। फारस हमारी अविभाजित बृहत्तर आर्य भूमि का एक अभिन्न अंग रहा है, इसलिए हमारी संस्कृति, परम्पराएँ और विचार व धारणाएँ लगभग समान हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अब इस्लाम के सामाजिक-सांस्कृतिक और प्रशासनिक पक्षों का फारसीकरण हो चला था, इसलिए आक्रमणकारियों को यह भूमि अपने अनुकूल लगी और उन्होंने इसे अपनी मातृभूमि बना लिया। वे स्थायी तौर पर यहीं बस गए और यहाँ तक कि दफनाए जाने के लिए भी इसी भूमि का चयन किया।

उनके पास कोई और विकल्प भी नहीं था, क्योंकि जिन देशों से वे आए थे, वहाँ शांति और सद्भाव का नामोनिशान नहीं था। सर्वत्र लूटपाट और हत्या का साम्राज्य था। इन परिस्थितियों में भारत के प्रति खिंचाव उत्तरोत्तर बता गया, वे इसके सौंदर्य, समृद्धि और खुशहाली के पाश में बँध कर रह गए। वह चाहे धर्म हो, या संस्कृति, समाज हो, या भाषा, खानपान हो, या नैतिकता, या फिर नियम हों अथवा व्यवस्थापन, भारतीय जीवन के हर पहलू पर ऊपर वर्णित इन सभी आक्रमणों का गहरा और चिरस्थायी प्रभाव पड़ा है।

शरीअत और विधि

शरीअत

इस्लाम में ईश्वर को ब्रह्मांड का रचयिता और स्वामी माना गया है। वह अपने प्रत्येक सेवक और अपने प्रत्येक प्राणी से प्रेम करता है। इसलिए, उसे अपनी प्रजा के लिए कानून बनाने का मौलिक अधिकार है। इस्लाम का न्याय का सिद्धान्त सफल जीवन के लिए एक सम्पूर्ण विधि संहिता है। धर्म, आपराधिक, विवाह, तलाक, दत्तक ग्रहण, वारिसी, उत्तराधिकार आदि जैसे मानव व्यवहार के प्राय: प्रत्येक पक्ष का नियमन शरीअत के अनुरूप किया जाता है। लिहाजा, जो व्यक्ति अल्लाह और उसके दूत के आदेश, जीवन प्रणाली को नहीं मानता और अलग राय रखता है, वह नास्तिक है। इस्लामी जीवन संहिता के विपरीत अपनाया गया प्रत्येक सिद्धान्त नास्तिकता है, प्रत्येक नियम नास्तिकता है। शरीअत में मनुष्य के लिए लाभदायक मनुष्य की स्थिति या कार्यों से संबद्ध आवश्यक और गौण सभी स्वरूपों के सारे तत्वों का समावेश है, इसलिए वह अपने किसी भी मामले में शरीअत से बाहर नहीं जा सकता। राजनीति से व्यापार, या किसी भी अन्य मामले तक, सभी मामले शरीआ में निहित हैं। ऐ आस्तिको! अल्लाह का, अल्लाह के दूत का और अपने बीच के रहनुमाओं का हुक्म मानो। (अल-निसा : 59) इब्न मंजूर ने शरीअत की व्याख्या इन शब्दों में की है, "सेवकों के लिए अल्लाह ता'अला द्वारा निर्धारित जीवन शैली और सेवकों को उसका पालन करने का आदेश (जैसे, नमाज, रोजा, हज, जकात और सभी नेक काम)" (इब्न मंजूर, लिसान अल-अरब, 8 : 175)

कुरान शरीअत का प्राथमिक तत्व है। यदि कुरान में किसी समस्या विशेष का समाधान न हो, तो शरीआ कानून का एक और तत्व है सुन्नत यानी किताब के रूप में पैगंबर मोहम्मद के तालीमों का संग्रह, जिसे हदीस कहा जाता है। यदि हदीस में किसी प्रावधान का उल्लेख न हो, तो इसका निर्धारण उलेमा के रूप में जाने जाने वाले इस्लामी विद्वानों के बीच व्यापक परामर्श के बाद किया जाता है। यह इजमा का परिणाम है कि आज इस्लामी न्यायशास्त्र में हनफी, शफी, मालेकी, हनबली और जअ'फरी के रूप में पाँच विचारधाराओं का विकास हुआ है; और विवाह, तलाक, भरण-पोषण, वारिसी और दत्तक ग्रहण को लेकर उनके बीच कई अंतर हैं। यदि इस्लामी विद्वानों के बीच कोई आम सहमति नहीं बन पाती, तो कुरान और हदीस के कुछ शब्दों या लेखन के अर्थ को लेकर अनुमान लगाया जाता है। यह प्रक्रिया कियास कहलाती है, जो शरीअत का चौथा तत्व है।[7]

शरीअत मानवता का आस्था और धर्म के आधार पर दो स्पष्ट वर्गों में वर्गीकरण करती है। आस्थावान लोग वे, जो पैगंबरों के सच्चे अनुयायी हों, उन्हें मोमिनिन/मुसलमान कहा जाता है। इनके इतर वे, जो कामवासनाओं के दास हों, जिन्हें गुलाम, काफिर, बहुदेववादी और पाखंडी कहा जाता है। शरीअत समानता की बात कभी नहीं करती, बल्कि उसमें केवल न्याय की गुंजाइश है। कुरान पाक में कहा गया है, "असल में, अल्लाह तुम्हें इनसाफ करने और नेक बनने का हुक्म देता है।" (सूर: अल-नहल : 90)। सूर: अल-नेसा आयत 58 में अल्लाह कहता है, "अल्लाह तुमहें हुक्म देता है कि तुम अमानतों को उनके मालिकों पर छोड़ दो; और लोगों के बीच जब तुम फैसला करो, तो इनसाफ के साथ करो। वास्तव में, अल्लाह तुम्हें अच्छा करने की सलाह देता है। अल्लाह सुन और देख रहा है।"

सत्य का ज्ञान मिलने के बाद भी किताब के लोगों ने इस्लाम के सच्चे मार्ग का पालन करने

की बजाय कई अलग-अलग रास्ते अपनाए, और यह केवल एक दूसरे के प्रति अत्याचार करना था। जो अल्लाह के हुक्मों और हिदायतों को मानने से इनकार करता है, उसे मालूम हो कि अल्लाह अपने हिसाब-किताब में तेज है।" (सूरः अल इमरान : 19)

विधि

दूसरी तरफ, विधि धर्म और दर्शन पर आधारित है और उसका बहुत पहले वैदिक युग का एक प्रलेखित इतिहास है। आज हम जिसे विधि कहते हैं, उसे प्राचीन भारत में 'धर्म' कहा जाता था। वैदिक काल में 'धर्म' का संरक्षण करना विधि का मुख्य उद्देश्य था, जिसका अर्थ है धार्मिकता और कर्तव्य। वेद इस विधि के प्रेरणास्रोत थे, जिसमें मनुस्मृति (200 ईसा पूर्व-200 ईस्वी), याज्ञवल्क्य स्मृति (200-500 ईस्वी), नारदस्मृति (100 ईसा पूर्व-400 ईस्वी), विष्णुस्मृति (700-1000 ईस्वी), बृहस्पतिस्मृति (200-400 ईस्वी) और कात्यायन स्मृति (300-600 ईसा पूर्व) समेत धर्म सूत्रों और स्मृतियों में निहित आचरण और अनुष्ठानों से संबद्ध नियमों का समावेश था। इन ग्रंथों का उपयोग बहुधा विधिक निर्णयों और मतों के लिए किया जाता था और वैदिक संप्रदायों की कई शाखाओं में इन्हें लागू किया जाता था। आधुनिक विधि की तुलना में, सनातनी विधि एक विशिष्ट विधिक प्रणाली थी क्योंकि यह मूल्यों की एक विशिष्ट योजना के साथ विधि और राजनीति की एक विशिष्ट प्रणाली का पालन करती थी। विधि के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं और उन्हें समान स्थान प्राप्त है और उनके बीच उनके धर्म, जाति, पंथ, नस्ल, क्षेत्र, महिला-पुरुष या आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा। किसी असानतनी पर सनातनी, काले पर गोरे, गोरे पर काले, अज्ञानी पर विद्वान, छोटे पर बड़े, बुरे पर अच्छे, महिला पर पुरुष, गरीब पर अमीर, आम आदमी पर मंत्री, किसी राजा की उसकी प्रजा पर कोई श्रेष्ठता मान्य नहीं है। कोई कितना भी ऊँचा हो, इमाम हो या प्रधान पादरी, शंकराचार्य हो या फिर ग्रंथी, विधि की दृष्टि में कानून से बँधा है। और किसी भी पंथ के आधार पर लोगों के बीच कोई भी भेदभाव मौलिक अधिकारों के विरुद्ध है और एक अपराध है। विधि के समक्ष सभी लोगों की समानता विधि के शासन का मुख्य सिद्धांत है, अर्थात विधि सर्वोच्च है और यह देश के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होती है। चाणक्य जैसे भारतीय दार्शनिकों ने भी अपने ढंग से यह कहते हुए विधि का समर्थन किया है, कि राजा पर कानून के वचन के अनुरूप नियंत्रण होना चाहिए। विधि के शासन की अवधारणा यह है कि राज्य में शासक या लोगों के चयनित प्रतिनिधियों का नहीं, बल्कि कानून का शासन होता है।[8]

आक्रमण के परिणाम

किंतु, भारत में मुस्लिम शासन की से हमारे कानूनी इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई। मुसलमान आक्रमणकारी अपने साथ एक नया धर्म, सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था लेकर आए। कई धर्म और संप्रदाय सहवर्ती थे और उनका परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव था। इस काल में सनातनी धर्म में भारी बदलाव आए। बौद्ध धर्म ध्वस्त हो गया। भारत में सिख धर्म और इस्लाम के रूप में दो नए धर्मों का उदय हुआ। धर्म का सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रणालियों के साथ-साथ कला व शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा। किंतु, संपूर्ण प्रतिस्थापन की बजाय, कानून की विभिन्न परंपराओं का एक साथ विकास हुआ, और पारिवारिक कानून व निजी कानून के मामलों पर मुसलमानों और हिंदुओं ने अलग-अलग कानूनी प्रणालियाँ अपनाई। मुगल साम्राज्य के दौरान, विशेष रूप से सम्राट अकबर के शासनकाल में, इस्लामी और हिंदू कानूनी रीति-रिवाजों को जोड़ने के प्रयास किये गए। एक उच्च न्यायालय, सद्र-ए-जहान का गठन इसका एक उदाहरण है, जिसमें दोनों समूहों से संबद्ध मामलों की सुनवाई होती थी।[9]

देश में जिस कानून के शासन का पालन हजारों वर्षों से किया जा रहा था, आक्रमणकारियों ने उसका उल्लंघन किया, और फिर गैर-मुस्लिम लोगों का दो वर्गों में विभाजन कर दिया : एक जिम्मियों का, जिन्होंने शासक की अधीनता स्वीकार की, और दूसरा मुस्तामिनों का, जिनके लिए राज्य ने एक आवधिक सुरक्षा की व्यवस्था की, और उन्हें एक आधुनिक राज्य में एक विदेशी के सभी अधिकार दिए। गैर-मुस्लिम निवासियों के उनके अपने धर्म, कानूनों और पूर्व से चले आ रहे रीति-रिवाजों के पालन पर शरीआ का बहुत कम प्रभाव पड़ा। 'आस्तिकों और 'नास्तिकों' के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी गई। अकबर की यह घोषणा गैर-मुसलमानों के प्रति उसके रुख को दर्शाती है :

"किसी भी व्यक्ति को उसके धर्म के कारण कष्ट नहीं दिया जाना चाहिए, और यदि कोई व्यक्ति अपना धर्म बदलना चाहे, तो उसे इसकी स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि कोई हिंदू महिला किसी मुसलमान से प्रेम करती हो और इस्लाम स्वीकार कर ले, तो उसे उससे छीन कर उसके परिवार को वापस कर दिया जाना चाहिए। यदि लोग गिरजाघर, प्रार्थना कक्ष, मूर्ति मंदिर या अग्नि मंदिर बनाना चाहें, तो उन्हें परेशान नहीं किया जाना चाहिए।"[10]

मध्य काल में, विधि और न्याय विभाग को 'अदालत' के रूप में जाना जाता था और इसकी दो अलग-अलग शाखाएँ होती थीं; 'महकमाए अदालत' और महकमाए शरीआ। महकमाए अदालत का संबंध सामान्य कानून से था, जिसमें अपराधों, यातना, उपद्रव आदि के इस्लामी कानून आते थे, और वे आस्था से परे राज्य की समस्त प्रजा पर लागू होते थे, अलबत्ता सजा के मामले में, मुसलमानों को व्यभिचार और मदिरापान जैसे अपराधों के लिए अधिक कठोर दंड का प्रावधान था। महकमाए शरीआ का संबंध शरीआ कानून से था, जिसका उपयोग केवल धर्मत्याग और ईश्वर के विरुद्ध अन्य अपराधों जैसी धार्मिक स्थितियों में किया जाता था। यह मुसलमानों के विशेष कानून की नींव के रूप में भी काम करता था। इस कानून के दंडात्मक प्रावधान मुसलमानों को छोड़कर अन्य जातियों पर लागू नहीं होते थे। कानून-ए-उर्फ एक और कानून था, जिसका प्रावधान स्थानीय रीति-रिवाजों और परंपराओं से संबद्ध मामलों से निपटने के लिए किया गया था।[11]

उपसंहार

मध्य काल में भारत को बार-बार एक ऐसे राष्ट्र का सामना करना पड़ा, जिसकी संस्कृति और सभ्यता, जिसकी आस्था और मत, जिसकी भाषा और साहित्य, जिसके विचार और सिद्धांत, जिसके धार्मिक सिद्धांत और स्थापना, जिसके रीति-रिवाज और परंपराएँ हर मामले में भिन्न थीं। फिर भी, अपनी उच्च सोच का अनुसरण करते हुए, हमने आक्रमणकारियों के शासन को स्वीकार किया। यह भी एक कटु सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारी

संख्या में बहुत कम थे, किंतु भारत में सभी मुसलमान सनातनी थे और सनातनी हैं, यद्यपि उनकी धार्मिक मान्यताएँ और प्रार्थना व पूजा-पाठ की विधि अलग हो सकती है। किंतु इस सांस्कृतिक और धार्मिक साम्राज्यवाद के बावजूद हम अपनी परंपराओं, जीवन शैली, मूल्य प्रणाली और धर्म से कभी समझौता नहीं करते। इसलिए यह जरूरी है कि कानून का शासन पूरे देश में लागू हो जहाँ पूजा अनुष्ठानों को छोड़कर किसी के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाए।

संदर्भ

1. जफर, एस.एम. (1939 प्रथम संस्करण) सम कल्चरल ऐस्पेक्ट ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पेशावर, https:// ignca.gov.in >Asi_data
2. महमूद के उनसुरी, फर्रोखी और गोर्देजी जैसे दरबारी कवियों ने सोमनाथ के प्रति एक बहुत ही रोचक कहानी लिखी है। उनके अनुसार, सोमनाथ की जो मूर्ति महमूद ने तोड़ी थी, वह इस्लामी इतिहास में 'लाट', 'उज्जा' और 'मन्नत' के रूप में उल्लिखित तीन मूर्तियों में से एक थी। ये तीन मुख्य मूर्तियाँ अन्य मूर्तियों के साथ खाना काबा में रखी गई थीं। पैगम्बर मोहम्मद ने मक्का विजय के दिन जब पाक मस्जिद में प्रवेश किया, तो उन्होंने देखा कि अल्लाह के घर के चारों ओर 360 मूर्तियाँ स्थापित थीं। उनके हाथ में एक धनुष था, जिससे वह इन मूर्तियों को मारते थे और कहते थे : "सत्य आ गया है और झूठ चला गया है, बेशक झूठ कुछ ऐसा है जो दूर जा रहा है।" (सूरा बानी इज़रईल : 81) उनके स्पर्श से मूर्तियाँ अपने चेहरों पर गिरती हैं (साही बुखारी अल्ताफसिर : 4720) अपने दीवान के कसीदा 35 में "सोमनाथ पर आक्रमण और मूर्ति भंजन" शीर्षक लेखन में फर्रोखी ने जिन घटनाओं का वर्णन किया है, उनके अनुसार, मक्का के खाना काबा से मनत की किसी तरह चोरी हो गई और भारत जैसे एक क्षेत्र में भेज दी गई, जहाँ मूर्ति पूजा का चलन था, और यह आशा थी कि मूर्ति वहाँ संरक्षित थी। संभवत: सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण का यही कारण था और इस लूट से वह मुस्लिम उम्मा में गाजी के रूप में मशहूर होना चाहता था। वहाँ एक हजार ब्राह्मणों और तीन सौ पचास गायकों व नर्तकों ने सेवा की, और दस हजार गाँवों की आय दान दी गई। यह सोमनाथ मंदिर था। एक खूनी युद्ध के बाद महमूद ने मंदिर पर कब्जा कर लिया, और वहाँ से दो करोड़ से अधिक दीनार लूट लिए, और अंत में, उसने मंदिर जला दिया।"
3. आसिफ, मजहर (2022, तृतीय संस्करण); तारीख-ए-आशम (अनुवाद) ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक अध्ययन विभाग, गुवाहाटी, असम
4. आसिफ, मजहर (2022, तृतीय संस्करण); तारीख-ए-आशम (अनुवाद) ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक अध्ययन विभाग, गुवाहाटी, असम
5. मजुमदार, रमेश चंद्र; पुसलकर, ए. डी.; मजुमदार, ए. के., सं. (1960)। दि हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल। खंड 6 : दि देल्ही सल्तनत। बॉम्बे (मुंबई) : भारतीय विद्या भवन।
6. मजुमदार, रमेश चंद्र; पुसलकर, ए. डी.; मजुमदार, ए. के., सं. (1973)। दि हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपल। खंड 7 : दि मुगल एंपायर। बॉम्बे (मुंबई) : भारतीय विद्या भवन।
7. रहीम, ए. (1907). ए हिस्टॉरिकल स्केच ऑफ मुहम्मडन जुरिसप्रुडेंस, मुस्लिम न्यायशास्त्र III. दि 'जुरिस्ट', दि मॉडर्न राइटर, एंड दि ब्रिटिश इंडियन कोर्ट्स। कोलंबिया लॉ रिव्यू, 7(4)। डिसाइडेड बाइ मेडिएवल कोर्ट्स इन इंडिया बिटवीन 1206-1750 एडी (सन् 1206 से 1750 ईस्वी के बीच भारत में मध्यकालीन न्यायालयों द्वारा निर्णीत। (शीर्षकमुक्त)।
8. दि धर्मसूत्र : दि लॉ कोड्स ऑफ एंसिएंट इंडिया। ओयूपी ऑक्सफर्ड, 1999
9. अबुल फजल : दि हिस्ट्री ऑफ अकबर (खंड 2), संपादन एवं अनुवाद व्हीलर एम. थैक्स्टन, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
10. अनूशह्र, ए. (2006)। मुगल हिस्टोरियंस एंड दि मेमरी ऑफ दि इस्लामिक कंक्वेस्ट ऑफ इंडिया। दि इंडियन इकॉनॉमी एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, 43(3)। अहमद, एमबी। (1951)। दि एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडिवल इंडिया : ए स्टडी इन आउटलाइन ऑफ दि जुडिशियल जस्टिस अंडर दि सुल्तान्स एंड दि बादशाहज ऑफ देल्ही बेस्ड मेनली अपॉन केसेज।
11. अबुल फजल: दि हिस्ट्री ऑफ अकबर (खंड 2), संपादन एवं अनुवाद व्हीलर एम. थैक्स्टन, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

साथ में

- सरकार, जे. (2023)। हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब। खंड 5। बालाजी प्रकाशन।
- बाशम, ए. एल. (1975), ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- फरिश्ता, मोहम्मद कासिम, तारीख-ए-फरिश्ता (खंड 1, 2 और 3) अशरफी बुक डिपो, देवबंद
- हबीबुल्लाह, ए. बी., एम (1957) दि फाउण्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, डिजिटल लाइब्रेरी, इंडिया; जय ज्ञान डिजिटल लाइब्रेरी ऑफ इंडिया आइटम 2015.199570
- इलियट, सर एच. एम., सं. डाउसन। दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया, ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स। दि मोहम्मडन पेरियड; प्रकाशन लन्दन ट्रुबनर कंपनी 1867-1877। (ऑनलाइन प्रति : दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया, ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स। दि मोहम्मडन पेरियड; सर एच. एम. इलियट; सं. जॉन डाउसन; लन्दन ट्रुबनर कंपनी 1867-1877 - इंटरनेट प्रस्तुति : पैकार्ड ह्यूमन इन्स्टिट्यूट; अनुदित फारसी पाठ्य सामग्री; अन्य ऐतिहासिक पुस्तकें, लेखक सूची व शीर्षक सूची भी देखें)
- इकराम, एस. एम. (1964), मुस्लिम सिविलिजेशन इन इंडिया, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क
- बद्र, गमाल मौरी, "इस्लामिक लॉ : इट्स रिलेशन टू अदर लीगल सिस्टम।" दि अमेरिकन जर्नल ऑफ कम्पैरेटिव लॉ। खंड 26 (1978), पृ. 187-198।
- बसिऊनी, एम. शेरिफ। संपादक। दि इस्लामिक क्रिमिनल जस्टिस सिस्टम। न्यू यॉर्क : ओसियाना पब्लिकेशन्स, इंक., 1982।
- दोई, अब्दुर रहमान आइ। शरीआ : दि इस्लामिक लॉ। लन्दन : ता-हा पब्लिशर्स, 1984।

डॉ. चंद्रशेखर प्राण

73वाँ संविधान संशोधन एक अधूरा विधायी प्रयास

शासन के संचालन में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी का मार्ग 73वें संशोधन के जरिये खोल तो दिया गया, लेकिन आज तक वह सही अर्थों में प्रतिष्ठित नहीं हो पाई। इसके कारणों और प्रभावों का विश्लेषण

22 दिसंबर 1992, वह महत्त्वपूर्ण दिन था जब 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के द्वारा भारत के नागरिकों को कानूनी तौर पर सही अर्थों में नागरिक अधिकारों से लैस किया गया तथा उसी के साथ लोकतंत्र को जमीनी स्तर पर उतारने की तैयारी की गई। ईसा से लगभग 450 वर्ष पूर्व यूनान के नगर राज्यों में नागरिक के रूप में उसे संबोधित किया जाता था जो शासन सत्ता के संचालन में प्रत्यक्ष रूप से सहभागी होता था। पश्चिमी लोकतंत्र का दर्शन इसी सहभागिता के साथ उसे राष्ट्र राज्य के मालिक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। 73वें संविधान संशोधन के द्वारा पंचायतों के माध्यम से लोकतंत्र को जमीन पर उतारने के साथ शासन के संचालन में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी का भी मार्ग खोला गया। वैसे तो अंग्रेजी राज्य में उससे 72 साल पहले विभिन्न प्रांतों के पंचायत एक्ट के द्वारा सामान्य जन को अपने गाँव के विकास व न्याय व्यवस्था की कुछ जिम्मेवारी कानूनन दी गई थी तथा आजादी के बाद ग्रामीण विकास की छिटपुट जिम्मेदारियाँ पंचायत के माध्यम से जारी रखी गई। लेकिन 73वें संविधान संशोधन में बहुत स्पष्टता के साथ संवैधानिक रूप से गाँव के विकास के लिए सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में वयस्क नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी को सुनिश्चित करते हुए राज्यों को उसका मालिकाना हक देने के लिए प्रेरित किया तथा उसका अवसर भी दिया। जिसके चलते देश के सभी राज्यों के पंचायती राज अधिनियमों में उसके अनुसार संशोधन की प्रक्रिया शुरू हो गई। संवैधानिक अनिवार्यता के चलते यह संशोधन प्रक्रिया मार्च 1994 तक लगभग सभी राज्यों ने पूरी की तथा स्व-सरकार को अधिकार सौंपने हेतु विधियों को बनाने की भी प्रक्रिया शुरू की। यह अलग बात है कि आज तक वह सही अर्थों में प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है।

जमीनी लोकतंत्र और सामान्यजन के इस मालिकाना हक को और अधिक गहराई से समझने के लिए भारतीय संस्कृति और इतिहास के कुछ पुराने पृष्ठों को भी पलटना जरूरी होगा। भारत को लोकतंत्र की जन्मभूमि कहे जाने के पीछे का सत्य यहीं से उद्घाटित होता है। वैसे तो दुनिया में मानव समाज अपने शुरुआती दौर में जिस सामाजिक व्यवस्था के तहत रह रहा था, वह सहज रूप में परस्पर सहयोग पर आधारित सहमति और सहकार की उसकी स्वयं की व्यवस्था थी। उस व्यवस्था में वह सामान्यत: अपने 'मन का राजा' था। आपस के उलझते और बिगड़ते संबंधों तथा समय व समझ के हिसाब से बढ़ती जरूरतों के साथ जैसे-जैसे राज्य और बाजार उसके जीवन के आवश्यक अंग बनते गए, वैसे-वैसे उसकी स्वतंत्रता का मलिकाना हक कमजोर होता गया। धीरे-धीरे वह दासता और गुलामी के चक्रव्यूह में फँसता गया। लेकिन भारत के गाँवों में यह आजादी और अधिकार लंबे समय तक कायम रहा। स्वराज्य और स्वावलंबन ही उसके जीवन का आधार था। अंग्रेजी राज में इस स्वराज्य पर ऐसा ग्रहण लगा कि दुनिया के इस सबसे समृद्ध देश की 60 से 70 प्रतिशत लोग गरीबी, गंदगी और बदहाली में जीने के लिए मजबूर थे।[1]

आजादी मिलने की सुनिश्चितता के साथ जब 1946 में संविधान सभा के गठन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, उसी दौरान श्रीमन् नारायण अग्रवाल ने महात्मा गांधी के 'ग्राम स्वराज' की परिकल्पना और संकल्प के आधार पर 'गांधीवादी संविधान' का एक ड्राफ्ट तैयार किया और उसे

संविधान सभा के सदस्यों को दिया भी।[2] लेकिन जैसा कि सर्वविदित है कि संविधान सभा के समक्ष संविधान का जो पहला ड्राफ्ट प्रस्तुत हुआ उसमें गाँव और पंचायत का कोई उल्लेख या प्रस्ताव नहीं था। संविधान सभा के कुछ सदस्यों के विरोध और दबाव के कारण यह विषय चर्चा के केंद्र में आया और लंबी बहस के बाद संविधान के नीति निर्देशक तत्व के अंतर्गत इसे समाहित कर इसे भविष्य के लिए छोड़ दिया गया।[3]

वैसे तो आजादी के ठीक बाद ब्रिटिश शासन के दौरान विभिन्न प्रांतों या सरकारों द्वारा बनाए गए पंचायत के अधिनियमों के आधार पर ही अधिकांश राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था की शुरुआत की गई। लेकिन यह प्रयास बहुत ही कमजोर था तथा राज्य सरकारों की कृपा पर आधारित था। राष्ट्रीय स्तर पर संघ सरकार के एजेंडे में भी इसे कोई स्थान नहीं मिला था। शायद राज्य सूची का विषय होने के कारण इस स्तर से यह उपेक्षित हुआ।

वर्ष 1952 से शुरू हुए 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' की जब चार साल बाद समीक्षा की जाने लगी तब पता चला कि समुदाय की जिस भागीदारी के साथ इस विकास कार्यक्रम का ताना-बाना बुना गया था, वह सहभागिता ना के बराबर रही। इसके चलते लक्ष्य काफी पीछे छूट गया। ऐसे में भारत सरकार को एक बार फिर से गांधी जी के 'ग्राम स्वराज' तथा 'पंचायत' की महत्ता समझ में आई। लेकिन वह भी स्वशासन के रूप में कम, विकास एजेंसी (माध्यम) के रूप में अधिक।

इसी क्रम में बलवंत राय मेहता कमेटी का गठन हुआ और उसकी रिपोर्ट के आधार पर अक्टूबर 1959 में नए सिरे से बड़े जोर-शोर के साथ पंचायती राज की शुरुआत हुई, लेकिन उसकी विकास यात्रा बहुत दूर तक नहीं जा सकी। धीरे-धीरे संघ और राज्य सरकारों की उपेक्षा के चलते ज्यादातर राज्यों में वह व्यवस्था निष्प्रभावी हो गई। इस दौरान पंचायत के लिए पहले से बने अधिनियमों में कुछ जरूरी बदलाव किए गए तथा उसको विकास की दृष्टि से प्रभावी बनाने के लिए कुछ नई संरचनाएँ भी बनाई गई।

जैसे जहाँ पंचायत व्यवस्था को गाँव तक ही सीमित रखा गया था, वहाँ ग्रामीण विकास के लिए खड़े किए गए नए ताने-बाने (ब्लॉक विकास समिति तथा जिला विकास परिषद) को इस व्यवस्था का हिस्सा बनाया गया। जिसके चलते सभी राज्यों में ग्राम पंचायत अधिनियम के साथ 'ब्लॉक विकास समिति' और 'जिला परिषद' के लिए भी अधिनियम बनाए गए और ग्राम, ब्लॉक एवं जिला स्तर पर इन्हें दायित्व भी सौंपे गए। वैसे तो उनके लिए तैयार विधान में तत्कालीन व्यवस्था और परिस्थिति के अनुसार प्राधिकार और दायित्व के आवश्यक प्रावधान तो किए गए लेकिन उसमें स्वायत्तता के अवसर बहुत कम थे। व्यवस्था का अधिकांश हिस्सा राज्य सरकारों की इच्छा, कृपा और अनुमति के अधीन था। इस व्यवस्था में 'गाँव समाज' को अपने विवेक के प्रयोग के अवसर बहुत कम थे। जबकि गांधी जी के 'ग्राम स्वराज' में निर्णय का अधिकार गाँव समाज के पास सुरक्षित रखा था और राजनैतिक तथा आर्थिक सत्ता को अपेक्षा के अनुसार विकेंद्रित होना था। 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' का सपना 'प्रशासनिक विकेंद्रीकरण' के धरातल पर भी ठीक से नहीं खड़ा हो सका।

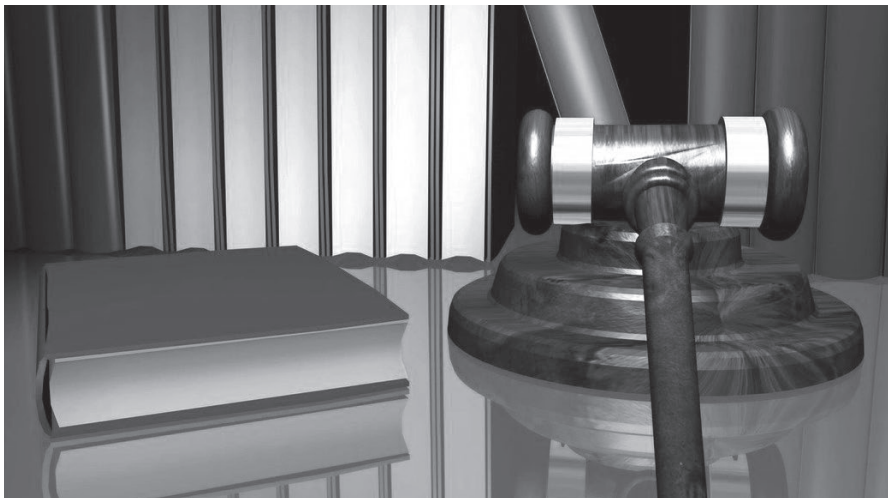

इस विसंगति के चलते विकास के प्रतिकूल परिणाम से केंद्रीय व राज्य की सरकारों की चिंता बढ़ती रही और उसके समाधान की खोज में कमेटियों के गठन तथा सुधार और प्रयोग के छुटपुट प्रयास भी किए जाते रहे, लेकिन सार्थक परिणाम बहुत कम रहा। पश्चिम बंगाल और कर्नाटक जैसे कुछ राज्यों के प्रयास अवश्य उल्लेखनीय रहे। जिन्होंने स्थानीय स्वशासन की बेहतर व्यवस्था की संभावनाओं को बराबर जीवित रखा।

वैसे तो 1957 में ही 'पश्चिम बंगाल पंचायत अधिनियम' पारित व लागू हुआ, लेकिन सही अर्थों में 1963 में जब 'जिला परिषद' का अधिनियम बना तब वहाँ की पंचायत व्यवस्था का एक नया रूप सामने आया। यहाँ चार स्तरीय पंचायत व्यवस्था लागू की गई- (1) ग्राम पंचायत, (2) अंचल पंचायत (3) आंचलिक पंचायत और (4) जिला परिषद।

इनमें प्रत्यक्ष चुनाव सिर्फ 'ग्राम पंचायत' का होता था, शेष स्तरों पर पदेन या नामित सदस्यों से गठन प्रक्रिया पूरी होती थी। 10 वर्ष बाद 1973 में पुनः अधिनियम में संशोधन कर त्रिस्तरीय पंचायत प्रणाली की शुरुआत की गई। वैसे इस संशोधित अधिनियम के आधार पर पंचायत व्यवस्था की सक्रिय भूमिका 1978 में हुई जब वामपंथी सरकार बनी। 1978 के चुनाव में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई, पहली राजनीतिक दल के चुनाव चिह्न पर निर्वाचन हुआ तथा बड़ी संख्या में युवजन चुनकर आए। इसके चलते पंचायत के प्रति जन जागरूकता और भागीदारी में बढ़ोतरी हुई तथा 'ऑपरेशन बरगा' के नाम से संचालित उल्लेखनीय भूमि सुधार कार्यक्रम का यह आधार बनी। इस दौरान तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हुए- (1) भूमि सुधार (2) ग्रामीण विकास (3) साक्षरता।[4]

कर्नाटक प्रांत में भी इस दौरान महत्त्वपूर्ण प्रयोग व प्रयास किया गया। 1978 में 'अशोक मेहता कमेटी' की रिपोर्ट को आधार बना कर राज्य के पंचायती राज अधिनियम में संशोधन कर 'जिला परिषद' व 'मंडल

परिषद' तथा 'न्याय पंचायत अधिनियम 1985' बनाया गया। इसी के साथ दो अन्य वैधानिक संस्थाओं की भी व्यवस्था की गई, प्रथम तालुका स्तर पर 'तालुका पंचायत परिषद' बनाई गई जो परामर्श एवं समन्वय हेतु थी, दूसरा मंडल परिषद के नीचे 'ग्राम सभा' गठित की गई। मंडल परिषद तथा जिला परिषद जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित संस्था के रूप में प्रतिष्ठित की गई। इन दोनों को काफी शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। इन दोनों संस्थाओं के चुनाव में राजनैतिक दलों का सीधा हस्तक्षेप रहा। यहाँ महिलाओं के 25% आरक्षण का एक महत्त्वपूर्ण प्रावधान भी किया गया।

इन प्रावधानों के कारण जिला पंचायत की स्थिति जिला सरकार के रूप में की गई। इसके अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष को क्रमश: राज्यमंत्री एवं उपराज्यमंत्री का दर्जा दिया गया। 'अध्यक्ष जिला पंचायत' को कार्यपालिका का प्रमुख होने के नाते सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर सामान्य प्रशासन का अधिकार था। जिला पंचायत का 'मुख्य सचिव' जिले का सबसे वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी होता था और उसकी गोपनीय रिपोर्ट जिला पंचायत अध्यक्ष ही लिखता था।

इसी के साथ जो दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रावधान किया गया, वह एक महिला सहित पाँच सदस्यीय 'न्याय पंचायत' के गठन का था। जिसका निर्वाचन 'मंडलपरिषद' द्वारा होता था। 'न्याय पंचायत' को कुछ खास दीवानी एवं फौजदारी मुकदमों के सुनने और निर्णय का अधिकार था। इस प्रकार 1985 के प्रावधान स्थानीय स्वशासन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण थे। लेकिन सबसे बड़ी कमी ग्राम स्तर पर 'पंचायत' का ना होना था। जिससे शासन में सामान्य जन प्रत्यक्ष भागीदारी से वंचित था।[5]

नया पंचायती राज

1992 के 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के द्वारा पंचायत और नगर पालिकाओं को सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में स्थापित करने की इस संवैधानिक प्रयास की पृष्ठभूमि 1988 व 89 में काफी ठोस तरीके से तैयार हो गई थी। जैसा कि हम जानते हैं कि तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा वर्ष 1989 में 64वें एवं 65वें संविधान संशोधन के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया था। लोकसभा ने इन दोनों विधेयकों को पास कर दिया था, लेकिन राज्यसभा की स्वीकृति इन्हें नहीं मिली। जिसके चलते यह संविधान का हिस्सा नहीं बन पाए। 1992 में इसी को थोड़े बहुत संशोधन के साथ पुन: प्रस्तुत किया गया। जिसे लोकसभा एवं राज्यसभा के साथ राज्य विधानमंडलों द्वारा भी पास किया गया।

1992 के 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के द्वारा पंचायत और नगर पालिकाओं को सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में स्थापित करने की इस संवैधानिक प्रयास की पृष्ठभूमि 1988 व 89 में काफी ठोस तरीके से तैयार हो गई थी। जैसा कि हम जानते हैं कि तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा वर्ष 1989 में 64वें एवं 65वें संविधान संशोधन के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया था। लोकसभा ने इन दोनों विधेयकों को पास कर दिया था, लेकिन राज्यसभा की स्वीकृति इन्हें नहीं मिली। जिसके चलते यह संविधान का हिस्सा नहीं बन पाए

1995 में लागू पंचायती राज की लगभग 30 वर्ष की यात्रा के विभिन्न पड़ाव पर जो उतार-चढ़ाव हुआ उससे कई तरह के अनुभव प्राप्त हुए। जिसको ध्यान में रखते हुए केंद्र सरकार द्वारा समय-समय पर अध्ययन और सुझाव हेतु कमेटियों का गठन किया गया। इसमें अशोक मेहता समिति (1977), जे.के.वी. राय समिति (1985), एल. एम. सिंधवी समिति मुख्य थी। इन्हीं समितियों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए पी.के. थुंगन की अध्यक्षता में गठित 'संसदीय सलाहकार समिति 1988' की एक उपसमिति ने सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में पंचायत को संवैधानिक दर्जा देने की सिफारिश की थी। इसी आधार पर तत्कालीन भारत सरकार द्वारा जनवरी 1989 से ही इसके लिए विभिन्न स्तरों पर संवाद और सुझाव की प्रक्रिया को तेज कर कर दिया गया था। इसमें स्थानीय सरकार के हजारों चुने हुए प्रतिनिधियों, सैकड़ों जिला अधिकारियों, बीसियों वरिष्ठ नौकरशाहों, राज्य कर्मचारी और दर्जनों मंत्रियों और मुख्यमंत्री के दृष्टिकोण का सार है।

मई 1989 में पंचायत के लिए 64वां संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। भारत सरकार द्वारा संवाद और सुझाव की यह प्रक्रिया महात्मा गांधी के ग्राम स्वराज की परिकल्पना से लेकर संविधान सभा के संकल्प तथा राज्य संचालन के अनुभवों पर पूरी तरह आधारित रहा। इसी बात की पुष्टि करते हुए तात्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने 1989 के गणतंत्र दिवस के ठीक दूसरे दिन 27 जनवरी को दिल्ली में आयोजित पंचायती राज सम्मेलन में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा था कि हमने आजादी की लड़ाई में तथा आजादी के बाद संविधान में वादा किया था कि हमारे लोकतंत्र की जो तीसरी कतार है, हम उसे मजबूत करेंगे। हमारे लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए पंचायत लेवल का जो लोकतंत्र है वह भी उतना ही मजबूत हो जितना दिल्ली अथवा राज्य की राजधानियों का। उनका स्वयं का मानना था कि तीसरी कतार के लोकतंत्र के कमजोर होने से सब लोग सरकार को माई-बाप के रूप में देखते हैं। उन्होंने यह भी स्वीकारा कि पंचायती राज को मजबूत करने की जो जिम्मेवारी राज्य सरकारों को दी गई थी, उसे उन्होंने ठीक से निभाया नहीं। इसके लिए ही संविधान संशोधन का विचार पैदा हुआ है।[6]

पंचायत राज्य का विषय होने के कारण संविधान संशोधन की इस बहस में जब कुछ राज्य सरकारों की ओर से सवाल और विरोध खड़े किए जाने लगे तब इसके जवाब में तत्कालीन प्रधानमंत्री की ओर से 27 फरवरी 1989 में पंचायती राज तथा अनुसूचित जाति सम्मेलन में बड़ी स्पष्टता के साथ कहा गया कि यह प्रश्न केंद्र और राज्य का नहीं है, किसी पार्टी का भी नहीं है। यह प्रश्न जनता और पावर ब्रोकर व सरमाएदार शक्तियों के बीच का है। यह प्रश्न है, असली शक्ति जनता के हाथ में देने की, जिससे वह उनके

विरोध में अपनी आवाज उठा सके। यह भी स्पष्ट किया गया कि यह लड़ाई दिल्ली से नहीं लड़ी जा सकती, यह लड़ाई ग्रासरूट की लड़ाई है, देहात में लड़ने की लड़ाई है, मोहल्लों में लड़ने की लड़ाई है।

64वें संविधान संशोधन विधेयक की प्रस्तुति के साथ संविधान के अनुच्छेद 40 का संदर्भ देते हुए राज्य द्वारा पंचायतों को संगठित करने तथा उन्हें सेल्फ गवर्नमेंट का दर्जा देने के निर्देश का विशेष रूप से उल्लेख किया गया। साथ ही इस बारे में राज्य सरकारों की भूमिका को लेकर गहरा अफसोस व्यक्त किया गया। माना यह गया कि राज्य विधानसभाओं द्वारा इस सिलसिले में सरकार को भारी अधिकार पंचायती संस्थाओं का बेड़ा गर्क करने के लिए दे दिए गए हैं। उनके अनुसार पंचायतों का अस्तित्व जनता के आदेश पर कम और राज्य सरकारों की सनक पर ज्यादा जिंदा है।[7]

संविधान के अनुच्छेद 12 में राज्य को जिस तरह के सत्ता के सभी प्राधिकारियों के अर्थ में परिभाषित किया गया है उसका हवाला देते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री ने स्पष्ट किया कि पंचायती राज के संवैधानिक ढाँचे का निर्माण मूल रूप से केंद्र की जिम्मेवारी है। विधायी विवरण राज्य की परिधि में आता है। अत: केंद्र इस विधेयक के द्वारा अपनी जिम्मेवारी का निर्वहन कर रहा है।

इस विधेयक के औचित्य और महत्त्व पर चर्चा करते हुए जहाँ एक ओर इस विधेयक के माध्यम से विकास की सारी एजेंसियों को पंचायती राज के ढाँचे में समाहित करने का आवाहन करते हुए कहा गया कि इन एजेंसियों के बिखराव के कारण ही जिला व तहसील स्तर पर प्रशासन जनता के प्रति गैर जिम्मेवार हो गया है। कुछ और नई खिड़कियाँ खोलकर हम उसे जिम्मेदार नहीं बना सकते। जिम्मेदार प्रशासन की जरूरी शर्त प्रतिनिधि प्रशासन है, जो वोटरों के प्रति जिम्मेवार हो। ग्रामीण भारत में ऐसा जिम्मेदार प्रशासन सच्चे पंचायती राज से ही कायम हो सकता है। इस विधेयक का यही लक्ष्य है।

सदन में अपने संबोधन के अंत में प्रधानमंत्री ने सदस्यों का आवाहन करते हुए कहा कि हमारा लोकतंत्र उस मोड़ पर पहुँच चुका है जहाँ जनता की समूची भागीदारी में विलंब नहीं किया जा सकता है। अब जनता को ही

इस विधेयक के औचित्य और महत्त्व पर चर्चा करते हुए जहाँ एक ओर इस विधेयक के माध्यम से विकास की सारी एजेंसियों को पंचायती राज के ढाँचे में समाहित करने का आवाहन करते हुए कहा गया कि इन एजेंसियों के बिखराव के कारण ही जिला व तहसील स्तर पर प्रशासन जनता के प्रति गैर जिम्मेवार हो गया है। कुछ और नई खिड़कियाँ खोलकर हम उसे जिम्मेदार नहीं बना सकते। जिम्मेदार प्रशासन की जरूरी शर्त प्रतिनिधि प्रशासन है, जो वोटरों के प्रति जिम्मेवार हो। ग्रामीण भारत में ऐसा जिम्मेदार प्रशासन सच्चे पंचायती राज से ही कायम हो सकता है। इस विधेयक का यही लक्ष्य है

अपनी किस्मत तय करनी है और इस देश की किस्मत भी। भारत के लोगों को आइए हम अधिकतम लोकतंत्र दें और अधिकतम सत्ता सुपुर्द करें। आइए हम जनता को सारी सत्ता सौंप दें।[8]

जनता को सारी सत्ता सौंपने के संकल्प के प्रति लोकसभा ने तो अपना समर्थन दिया लेकिन राज्यसभा में यह समर्थन नहीं मिल पाया। राज्यसभा में पंचायत और नगर पालिका के 64वें एवं 65वें दोनों विधेयकों को अक्टूबर 1989 में एक साथ प्रस्तुत किया गया था।

इसे लेकर कुछ राज्यों तथा विपक्ष के सदस्यों द्वारा इन विधेयकों के प्रतिपक्ष में पिछले दरवाजे से प्रवेश, ढाँचागत एकरूपता, आरक्षण, राजनीति मर्यादा का उल्लंघन, संसाधनों के आवंटन का अतिक्रमण आदि से संबंधित आरोप लगाया था।

इसी क्रम में राज्य सरकारों की उस विशेष आपत्ति का भी जवाब दिया गया जिसमें 11वीं व 12वीं अनुसूची द्वारा राज्य विधायिकाओं की संवैधानिक विधायी संप्रभुता और राज्य सरकारों के काम करने की आजादी पर अतिक्रमण कहा गया था। सरकार की ओर से स्पष्ट किया गया कि इन अनुसूचियों में पंचायत और नगर पालिकाओं द्वारा अमल में लाए जा सकने वाले विकास कार्यक्रमों से संबंधित विषयों की विस्तृत सूची दी गई है। यह ऐसे विषय हैं जिनके संबंध में किसी राज्य की दूरस्थ राजधानी के मुकाबले स्थानीय निकाय में अधिक गहरी समझ होने की संभावना है और सरकारी एजेंसियों की उत्साहहीन सेवा के मुकाबले स्थानीय निर्वाचित निकायों द्वारा क्रियान्वयन जनता की जरूरत के प्रति अधिक संवेदनशील होगा।

इन अधिकारों की सुपुर्दगी के विधायी मापदंड की जिम्मेवारी राज्य विधायिकाओं पर तथा उन मापदंडों को व्यावहारिक प्रभाव देने की जिम्मेवारी राज्य सरकारों को देने का वादा करते हुए अंतत: प्रधानमंत्री ने सत्ता हस्तांतरण के अंश और प्रकृति को जनता पर छोड़ देने की बात कही। उनके अनुसार वे राज्य सरकारें जो जनता की अपेक्षाओं पर खरी उतरेंगी उन्हें जनता की स्वीकृति मिलेगी। वे जो जनता की इच्छा पूरा करने में असफल होंगी उन्हें जनता ठुकरा देगी।[9]

प्रधानमंत्री के वक्तव्य का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विकास कार्यक्रम के नियोजन और क्रियान्वयन में जनता की भागीदारी के अभाव को लेकर था। इसी परिप्रेक्ष्य में कहा गया कि जनता से इस बारे में कतई सलाह नहीं ली जाती। यदि ली भी जाती है तो निहायत लापरवाह ढंग से। इस संशोधन के जरिए यह नियोजन की प्राथमिक जिम्मेवारी पंचायत और नगर पालिकाओं को हर स्तर पर सौंपी जाएगी। प्रत्येक स्थानीय समुदाय अपने विकास के लिए अपनी योजना खुद बनाएगा। नियोजन के साथ क्रियान्वयन की जिम्मेवारी के बारे में बड़ी स्पष्टता के साथ कहा गया कि इससे निरुत्साही तथा दूर रहने वाली सरकारी एजेंसियों के बजाय निर्वाचित स्थानीय निकायों को कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की जिम्मेवारी देने से ही उनके भीतर जनता के प्रति जिम्मेवारी का बोध होगा। जब प्रतिनिधिकता के साथ जिम्मेवारी भी जुड़ जाती है तब प्रशासन भी संवेदनशील हो जाता है।

अंत में यह विश्वास व्यक्त किया गया कि इस विधेयक के माध्यम से गांधी जी की

कल्पना को मूर्त रूप मिलेगा तथा इससे सत्ता जनता के हाथों में पहुँचेगी। इससे सत्ता के दलालों का शासन खत्म होगा तथा निचले स्तरों को जिम्मेदारी मिलेगी। यह विधेयक विकास और सामाजिक न्याय के नियोजन और क्रियान्वयन में जनता की भागीदारी लाएंगे। यह विधेयक हमारे राज्य व्यवस्था की बुनियाद में जनतंत्र सुरक्षित करने के लिए बनाए गए हैं ताकि राज्यों की राजधानियों और राष्ट्रीय राजधानी में जनतंत्र का ऊपरी ढाँचा स्थाई मजबूत और पक्की नींव वाला बन सके।[10]

लेकिन जैसा कि सर्वविदित है कि अक्टूबर 1989 में राज्यसभा में यह विधेयक पास नहीं हो सका जिससे स्थानीय स्वशासन की यह महत्त्वपूर्ण कोशिश जमीन पर नहीं उतर पाई।

दिसंबर 1989 में हुए लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस पार्टी सत्ता से अलग हो गई। राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी। इस सरकार ने एस. आर. बोम्मई की अध्यक्षता में पूर्व में प्रस्तुत विधेयकों (64वें एवं 65वें) के प्रतिपक्ष में वैकल्पिक विधेयक की सिफारिश की। जिसे जून 1990 में मुख्यमंत्रियों की बैठक में विचार विमर्श और सहमति हेतु रखा गया तथा उसके उपरांत 7 नवंबर 1990 को लोकसभा में इसका विधेयक पेश किया गया। लेकिन 7 नवंबर 1990 को लोकसभा भंग हो जाने के कारण स्थानीय स्वशासन का यह प्रयास भी बेकार गया।

जब 1991 में कांग्रेस की सत्ता में फिर से वापसी हुई। 16 सितंबर 1991 को पुन: 73वें संविधान संशोधन के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया। जो 22 दिसंबर 1992 को संसद द्वारा पारित किया गया तथा 24 अप्रैल 1993 के राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद 24 अप्रैल 1994 से पहले अधिकांश राज्यों ने अपने पंचायतीराज अधिनियम में संविधान के अनुसार संशोधन कर लिया।

इस संविधान संशोधन के बाद पंचायत की "अपनी (स्व) सरकार" का जो स्वरूप सामने आया है, उसकी खास-खास विशेषताएँ इस प्रकार है:-

1. पूरे देश में ढाँचागत एकरूपता लाने के लिए त्रिस्तरीय (गाँव, मध्य क्षेत्र तथा जिला) पंचायत की व्यवस्था लागू की गई। तीनों स्तर पर (ग्राम, क्षेत्र, जिला) पंचायत सदस्यों का चुनाव सीधे जनता द्वारा निर्वाचन से सुनिश्चित किया गया।
2. पंचायतों का कार्यकाल 5 वर्ष का तय हुआ। कार्यकाल समाप्ति के बाद 6 माह के भीतर चुनाव कराना अनिवार्य हो गया। इसके लिए अलग से 'राज्य निर्वाचन आयोग' का प्रावधान हुआ।
3. सभी स्तरों पर अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए उस क्षेत्र में उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीट आरक्षित की गई। महिलाओं के लिए भी सभी स्तरों पर एक तिहाई भाग आरक्षित हुआ। यह व्यवस्था अध्यक्ष पद पर भी लागू की गई। पिछड़े वर्ग के आरक्षण का मुद्दा राज्य सरकारों के ऊपर छोड़ दिया गया।
4. संसाधनों की समुचित व्यवस्था हेतु 'राज्य वित्त आयोग का गठन' तथा आडिट की समुचित व्यवस्था बनाई गई।
5. ग्राम पंचायत से लेकर जिला स्तर तक जन भागीदारी के साथ योजना बनाने के लिए 'जिला योजना समिति' के गठन का प्रावधान भी इसी क्रम में 74वें संविधान संशोधन में किया गया।
6. ग्यारहवीं अनुसूची के माध्यम से 29 विषयों के कार्य पंचायतों को सुपुर्द किए गए।
7. ग्राम स्तर पर 'ग्राम सभा' का गठन अनिवार्य किया गया। ग्राम से संबंधित मतदाता सूची में पंजीकृत व्यक्तियों से मिलकर यह निकाय गठित होता है।

संविधान ने ग्यारहवीं सूची के माध्यम से जिन 29 विषयों की जिम्मेवारी पंचायत को सौंपी है उसमें कृषि, जल, वन तथा पशु जैसे गाँव जीवन के मूलभूत विषयों को तो शामिल किया ही साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग जैसे भौतिक समृद्धि एवं गरीबी उन्मूलन के मुद्दों को भी जोड़ा गया है। वहीं दूसरी ओर मकान, सड़क, पुलिया, बिजली, सामुदायिक भवन जैसे भौतिक संरचनागत संसाधनों के निर्माण व विकास के साथ-साथ महिला एवं बाल विकास, समाज कल्याण तथा अनुसूचित एवं कमजोर वर्गों के कल्याण की जिम्मेवारी भी सौंपी है। इस प्रकार ग्रामीण जीवन के नियमन और विकास के उन सभी तत्त्वों एवं विषयों को पंचायत के साथ जोड़ा गया है जो गाँव की खुशहाली के लिए आवश्यक हैं।

73वें संविधान संशोधन अनुच्छेद 243 Ä के भाग 4(ख) के अंतर्गत अनुसूचित क्षेत्रों को इससे अलग रखते हुए संसद को अलग से अधिनियम बनाने का दायित्व भी सौंपा गया।[11] जिसके अंतर्गत भारत की संसद के उच्च सदन (राज्यसभा) में 12 दिसंबर 1996 में पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) विधेयक प्रस्तुत किया गया। जो संसद के दोनों सदनों में पारित होकर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद 24 दिसंबर 1996 में लागू हो गया। इस विधेयक के लिए जून 1994 में ही दिलीप सिंह भूरिया की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई थी। जिसकी रिपोर्ट के आधार पर यह तैयार किया गया था।

इस विस्तार अधिनियम की विशेषता यह है कि इसमें आदिवासियों के पारंपरिक नियम तथा सामाजिक व धार्मिक रिवाजों तथा सामुदायिक संसाधनों के प्रबंधन के पारंपरिक तरीकों को पूरा सम्मान देते हुए उसी के अनुरूप राज्य के विधानमंडलों को कानून बनाने का निर्देश दिया गया है। इसी के साथ उनके पारंपरिक गाँवों को ही इसकी

संविधान ने ग्यारहवीं सूची के माध्यम से जिन 29 विषयों की जिम्मेवारी पंचायत को सौंपी है उसमें कृषि, जल, वन तथा पशु जैसे गाँव जीवन के मूलभूत विषयों को तो शामिल किया ही साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग जैसे भौतिक समृद्धि एवं गरीबी उन्मूलन के मुद्दों को भी जोड़ा गया है। वहीं दूसरी ओर मकान, सड़क, पुलिया, बिजली, सामुदायिक भवन जैसे भौतिक संरचनागत संसाधनों के निर्माण व विकास के साथ-साथ महिला एवं बाल विकास, समाज कल्याण तथा अनुसूचित एवं कमजोर वर्गों के कल्याण की जिम्मेवारी भी सौंपी है

इकाई मानते हुए उसे ही ग्रामसभा के रूप में स्वीकार करने तथा उसे संबंधित समुदाय की परंपराओं, सामुदायिक संसाधनों तथा सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित करते हुए आपस के झगड़ों को सुलझाने का पूरा अधिकार दिया गया है। इसी के साथ भूमि अधिग्रहण तथा गौण खनिजों के लाइसेंस देने से पहले ग्रामसभा से सलाह लेने के प्रावधान के साथ गाँव में मादक पदार्थ की बिक्री को प्रतिबंधित करने, भूमि का हस्तांतरण रोकने, धन उधार की प्रक्रिया को नियंत्रित करने तथा सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं पर नियंत्रण रखने की शक्ति प्रदान की गई है।[12]

पंचायतें सही अर्थों में तीसरी सरकार के रूप में प्रतिष्ठित हो सके इसके लिए भारत सरकार के स्तर से निरंतर प्रयास किया जाता रहा है। लेकिन राज्य सरकारें बड़े पैमाने पर उदासीन रही हैं। इस दिशा में 1999 में भारत सरकार के तत्कालीन ग्रामीण विकास मंत्री बाबा गौड़ा पाटिल का वह पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो उन्होंने 17 मार्च 1999 को देश के सभी मुख्यमंत्रियों को भेजा था। उन्होंने पत्र की शुरुआत ही इससे की थी कि "ग्राम पंचायतों को स्वशासन की इकाई के रूप में गठित करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 40 के निर्देश के बावजूद अब तक हुई प्रगति पर्याप्त नहीं है। कथित विकास की धुन ने इस संस्थाओं को मूलत: राज्य सरकारों के शक्तिशाली तंत्र की पिछलग्गू के रूप में कार्य करने के लिए विवश कर दिया। "इसी पत्र में उन्होंने वास्तविक रूप से पंचायतों के सरकार के रूप में कार्य करने के लिए लिखा था कि वास्तविक स्वशासन (Self-Government) के लिए पंचायतों के कार्यों और शक्तियों का दायरा काफी व्यापक होना चाहिए। नि:संदेह विकास कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण है, परंतु वे स्वशासन के मर्म नहीं हो सकते। जब तक भूमि और अन्य संसाधनों के प्रबंधन और झगड़ों को निपटाने के अधिकार ग्रामसभाओं को नहीं सौंपे जाते, तब तक वास्तविक स्वशासन नहीं हो सकता।[13]

भारत सरकार के स्तर से पंचायतीराज व्यवस्था को संविधान की मंशा के अनुरूप तीसरे स्तर की सरकार के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए समय-समय पर आयोग एवं समूहों का गठन किया जाता रहा है। इसमें

पंचायत सरकार के चुने हुए प्रतिनिधियों को आए दिन जिलाधिकारियों द्वारा निलंबित किया जाता रहा है। इस भय के चलते प्रतिनिधिगण उच्च अधिकारियों के सभी गलत-सही निर्णयों को मानने के लिए मजबूर रहते हैं। सुधार आयोग ने इस सच्चाई को संज्ञान में लेते हुए लोकपाल की नियुक्ति का सुझाव दिया था। जिसके आधार पर जम्मू-कश्मीर जैसे कुछ ही राज्यों में इस तरह के लोकपालों की नियुक्ति के प्रावधान बनाए गए हैं। वह भी व्यवहार में अभी पूरी तरह से उतार नहीं पाया है। आयोग द्वारा यह सलाह दी गई है कि राज्य सरकारों के पास पंचायती राज संस्थाओं द्वारा पारित किसी संकल्प को स्थगित अथवा रद्द करने या पद के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार आदि के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों के खिलाफ कार्यवाही करने अथवा पंचायतों को अधिक्रमित या भंग करने का अधिकार नहीं होना चाहिए

'द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग' तथा इसी सम्बन्ध में वी रामचंद्रन की अध्यक्षता में बने कार्य समूह (वर्ष 2011) की संस्तुति एवं सुझाव महत्त्वपूर्ण है।

'द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग' ने तो भारत सरकार को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से संविधान के अनुच्छेद 243 N, जो पंचायतों के प्राधिकार और दायित्व से संबंधित है, को पुन: संशोधित करने का सुझाव देते हुए इसके नए प्रारूप को भी दिया है, जो इस प्रकार है - " इस संविधान के प्रावधानों के अधीन, राज्य की विधान परिषद कानून द्वारा उपयुक्त स्तर की पंचायत को यथा आवश्यक अधिकार और प्राधिकार सौंपेगी ताकि वे ऐसे सभी कार्यों के संबंध में स्वशासन संस्थाओं के रूप में अपने कार्य को संपन्न कर सकें जो स्थानीय स्तर पर संपन्न किए जा सकते है जिसमें 11वीं अनुसूची में सूचीबद्ध मामलों से संबंधित कार्य शामिल है।

इतना ही नहीं उसने संघ एवं राज्य की सभी संगत कानूनों की तत्काल समीक्षा करने तथा उनको तदनुसार संशोधित करने का सुझाव दिया। उसने संविधान के अनुच्छेद 252 जिसमें दो या अधिक राज्यों के लिए संसद को विधि बनाने की शक्ति दी गई है, का हवाला देते हुए कहा है कि स्थानीय शासनों और समुदायों के अधिकारों, जिम्मेदारियों और कार्यों के हस्तांतरण का विस्तृत सिद्धांत विहित किया जाना चाहिए, जिसमें पूरकता का सिद्धांत, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण, सही मायने में सत्ता का हस्तांतरण तथा नागरिक केंद्रित व्यवस्था को विशेष रूप से शामिल किया गया है।

राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों की कई राज्यों में जिस तरह अनदेखी की जा रही है उसको देखते हुए उसने एक ऐसे तंत्र की स्थापना की आवश्यकता जताई है जो निरंतर वित्त आयोग की सिफारिशों के क्रियान्वयन की समीक्षा करें।

जैसा कि सर्वविदित है कि पंचायत सरकार के चुने हुए प्रतिनिधियों को आए दिन जिलाधिकारियों द्वारा निलंबित किया जाता रहा है। इस भय के चलते प्रतिनिधिगण उच्च अधिकारियों के सभी गलत-सही निर्णयों को मानने के लिए मजबूर रहते हैं। सुधार आयोग ने इस सच्चाई को संज्ञान में लेते हुए लोकपाल की नियुक्ति का सुझाव दिया था। जिसके आधार पर जम्मू-कश्मीर जैसे कुछ ही राज्यों में इस तरह के लोकपालों की नियुक्ति के प्रावधान बनाए गए हैं। वह भी व्यवहार में अभी पूरी तरह से उतार नहीं पाया है। आयोग द्वारा यह सलाह दी गई है कि राज्य सरकारों के पास पंचायती राज संस्थाओं द्वारा पारित किसी संकल्प को स्थगित अथवा रद्द करने या पद के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार आदि के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों के खिलाफ कार्यवाही करने अथवा पंचायतों को अधिक्रमित या भंग करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। ऐसे सभी मामलों में छानबीन करने और कार्यवाही की सिफारिश करने का अधिकार

स्थानीय लोकपाल के पास होना चाहिए जो लोकायुक्त के माध्यम से राज्यपाल को अपनी रिपोर्ट भेजेगा।[14]

लगभग इसी प्रकार वी. रामचंद्रन के अध्यक्षता वाले कार्यसमूह ने स्थानीय सरकार के एक मजबूत सिस्टम के विकास को केंद्र में रख कर अपनी संस्तुतियाँ दी है। रिपोर्ट के दूसरे चैप्टर में कार्य समूह की यह चिंता कि, पंचायत 'स्थानीय सरकार' के रूप में दिखाई नहीं पड़ रही है, उसके कारणों का स्पष्ट उल्लेख किया है जिसमें अधिकारों के हस्तांतरण का न होना, केंद्र व राज्य सरकार की ओर से पंचायत के द्वारा समांतर अन्य संस्थाओं को खड़ा करना, नौकरशाही का नियंत्रण, सिर्फ केंद्र व राज्य की स्कीमों के लिए धन देना तथा राज्य के अधिनियमों में ग्रामसभा को पर्याप्त अधिकार न देना जैसे कारणों को चिह्नित किया है। इन कारणों से मुक्ति का रास्ता भी उसमें सुझाया है। इसके लिए उसमें अगले 6 वर्षों (2011 से 2017) तक के लिए एक रोड मैप भी तैयार किया था। पंचायत को संविधान के अनुसार सेल्फ गवर्नमेंट अर्थात अपनी सरकार के रूप में सशक्त, सक्षम तथा जवाबदेह बनाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए है तथा ग्रामसभा को मजबूत व अधिकार संपन्न करके पंचायत को उसके प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए संस्तुति की है। इसी के साथ पंचायत के लिए कर्मचारियों का अलग से कैडर बनाने, सामानांतर संस्थाओं को पंचायती व्यवस्था में विलय करने, 29 विषयों के समस्त कार्य, कर्मी, कोष पंचायतों को सौंपने तथा स्थानीय नियोजन को प्राथमिकता देने पर जोर देने के साथ ही चुने हुए प्रतिनिधियों की क्षमता और कुशलता के विकास तथा मतदाताओं (ग्राम सभा सदस्यों) की जागरूकता पर भी बल दिया है।[15]

इस समय संविधान में नए सिरे से जिन बिंदुओं पर संशोधन करने की आवश्यकता है उसमें अधिकार व दायित्व प्रदान करने का स्पष्ट प्रावधान, पंचायत के विषयों को सातवें अनुसूची का हिस्सा बनाने, राज्य वित्त आयोग की संस्तुतियों को प्रभावी बनाने, चुने हुए प्रतिनिधियों के विरुद्ध जाँच हेतु लोकपाल गठित करने, अलग से पंचायत कैडर बनाने, समानांतर संस्थाओं को समाप्त करने, स्थानीय स्तर पर सुलभ एवं सस्ता न्याय उपलब्ध कराने हेतु न्याय पंचायतों का प्रावधान करने तथा ग्रामसभाओं को अपनी गाँव सरकार की विधायिका के रूप में प्रतिष्ठित करने जैसे मुद्दे शामिल है। वैसे तो इनमें से कुछ मुद्दों पर संसद द्वारा अधिनियम भी बनाया जा सकता है। जिसमें 'न्याय पंचायत' की पुनर्स्थापना तथा 'ग्राम सभा' को विधायिका के रूप में प्रतिष्ठित करने का मुद्दा प्रमुख है। इससे यह लगता है कि बिना संसद के हस्तक्षेप के पंचायतों को सही अर्थों में तीसरी सरकार अर्थात जनता की 'अपनी सरकार' के रूप में विकसित करना पूरे देश में संभव नहीं रह गया।

इस सबके लिए यह भी जरूरी है कि ग्रामसभा को इस व्यवस्था में सर्वाधिक महत्त्व दिया जाए। वैसे तो भारत सरकार के स्तर पर ग्रामसभा को काफी महत्त्व दिया गया है। उसके द्वारा गाँव के विकास और शासन के लिए बनाए गए अधिनियमों तथा कार्यक्रमों में निर्णय का अधिकार सामान्यतया ग्राम सभा को दिया गया है। उदाहरण के लिए 'महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम' तथा 'ग्राम पंचायत विकास योजना' में निर्णय का पूरा अधिकार ग्रामसभा को दिया गया है। भारत सरकार की तो शुरुआती दौर से ही यह मंशा रही है कि नई पंचायतीराज व्यवस्था के अंतर्गत ग्राम सभाओं को वही स्थान व अधिकार प्राप्त हो जो देश की राज्य व्यवस्था में विधायिका को प्राप्त है। लेकिन दूसरी तरफ ग्रामसभा के प्रति लोगों की जागरूकता का स्तर बहुत कमजोर है। लोगों को ग्राम सभा और ग्राम पंचायत का अन्तर स्पष्ट नहीं है। कई राज्यों में ग्राम पंचायत ग्राम सभा का सुझाव मानने को बाध्य नहीं है। इसलिए ग्रामसभा की बैठकों में उपस्थिति न के बराबर है। जिन राज्यों में पंचायतें प्रभावी तरीके से कार्य कर रही हैं उन राज्यों में ग्रामसभा पर विशेष रूप से फोकस किया गया है। इसी के साथ ग्रामसभा के विस्तृत क्षेत्र और जरूरत से ज्यादा सदस्य संख्या को देखते हुए ग्राम पंचायत क्षेत्र के निर्वाचक क्षेत्रों (वार्डों) में वार्ड सभा का प्रावधान करके लोक भागीदारी को सामुदायिकता के साथ जोड़कर प्रोत्साहित किया जा रहा है। जहाँ इस तरह की ईमानदार कोशिश हो रही है वहाँ उसके परिणाम भी बहुत उत्साहवर्धक हैं।

संदर्भ-

1. इंडिया इन - 1927-28
2. गांधियन कान्स्टिट्यूशन ऑफ फ्री इंडिया, श्रीमन नारायण अग्रवाल, पृव 9
3. भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहाबाद, दशम संस्करण 2013, भाग-4 (राज्य की नीति के निदेशक तत्व) पृष्ठ-34
4. विकास में ग्राम पंचायत की भूमिका, शोध ग्रंथ, डॉ चन्द्रशेखर प्राण, पृव 125
5. वही, पृव 141
6. पंचायती राज सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री का उद्घाटन भाषण, 27 जनवरी 1989
7. पंचायती राज विधेयक पर तत्कालीन प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए भाषण का अंश, 15 मई 1989
8. वही, 15 मई 1989
9. राज्य सभा में तत्कालीन प्रधानमंत्री का वक्तव्य, 13 अक्टूबर 1989
10. वही, 13 अक्टूबर 1989
11. भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहाबाद, दशम संस्करण 2013, भाग-9 (पंचायत) पृष्ठ-134
12. पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996, पेसा कानून, पॉपुलर एजुकेशन एण्ड एक्शन सेंटर, आस्था संस्थान - 2020
13. राज्यमंत्री ग्रामीण विकास, भारत सरकार, बाबा गौड़ा पाटिल द्वारा 17 मार्च 1999 को राज्यों के मुख्यमंत्रियों को भेजे गए पत्र का अंश
14. पंचायतों की स्थिति : 2007-08 (तृतीय खण्ड : अनुपूरक), अनुबंध II, स्थानीय शासन पर द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशे - पंचायती राज मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली - पृष्ठ - 182
15. वी राम चन्द्रन कार्य समूह की रिपोर्ट 2009

डॉ. महेश कौशिक

राष्ट्र, राज्य एवं विधायन पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दर्शन

राष्ट्र और राज्य की पूरब-पश्चिम की मूलभूत अवधारणा में ही बहुत अंतर है। इसीलिए विधायन की हमारी अवधारणा और प्रक्रिया भी उनसे सर्वथा भिन्न है। एक विश्लेषण

राष्ट्र और राज्य की अवधारणाओं को लेकर सामान्यतया यह भ्रम उत्पन्न होता है कि क्या दोनों समानार्थी हैं? अथवा राष्ट्र और राज्य में से कोई एक अधिक महत्वपूर्ण है? वर्तमान समय में राज्य की शक्ति बढ़ने के कारण राज्य ही कानून का निर्माता बन गया है और उन कानूनों को लागू करवाने वाली शक्ति के रूप में कार्य कर रहा है। क्या वर्तमान समय में राष्ट्र गौण हो गया है? जनता की दृष्टि से कल्याणकारी अवधारणा कौन सी है - राष्ट्र अथवा राज्य? राष्ट्र की पाश्चात्य एवं पौर्वात्य अवधारणाओं में भी अंतर है। क्या राष्ट्र की पाश्चात्य अवधारणा सभी राष्ट्रों पर समान रूप से लागू हो सकती है? विधायन की आवश्यकता किसे है और क्यों है? अपनी 'नेशन' की अवधारणा के आधार पर पश्चिमी विचारक कहते हैं कि भारत राष्ट्र नहीं है जबकि पौर्वात्य विचारक मानते हैं कि भारत एक प्राचीन राष्ट्र है। प्रस्तुत शोध पत्र विधायन की आवश्यकता तथा राष्ट्र और राज्य में अंतर को स्पष्ट करते हुए उनके संबंध में पौर्वात्य तथा पश्चिमी अवधारणाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

संकेत शब्द : राष्ट्र , राज्य , नेशन, विधायन

राष्ट्र की अवधारणा

राष्ट्र को अंग्रेजी में 'Nation' कहते हैं इसलिए सामान्यतया राष्ट्र की परिभाषा के नाम पर नेशन की परिभषा ही दी जाती है। नेशन शब्द की उत्पत्ति 'नेशियों' शब्द से हुई है। 'नेशियों' का अर्थ 'पैदा होना' अथवा 'जन्म लेना' है। इस प्रकार नेशन उस मानवीय समूह को कहते हैं जो जाति, धर्म, भाषा, परंपरा के परिणामस्वरूप एक हो (तिवारी, डॉ. शशि)[1]। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में भी इसी आधार पर 'नेशन' को परिभाषित किया गया है - "मुख्य रूप से समान वंश, भाषा, इतिहास आदि वाले लोगों की बड़ी संख्या। आमतौर पर, एक सरकार के तहत सुपरिभाषित सीमाओं से घिरा हुआ एक क्षेत्र और एक समाज का निर्माण।"[2] पश्चिम में 'नेशन' की अवधारणा भाषा, जाति, वंश एवं भौगोलिक सीमा के आधार पर विकसित हुई। "कुछ ही समय बाद अठारहवीं सदी के अंत में अमेरिका और बाद में लैटिन अमेरिका में समान क्षेत्रीय राष्ट्रों और राजनैतिक समुदायों का उदय हुआ। यहाँ भी, स्पेनियों और पुर्तगालियों के साम्राज्य और अंग्रेजों के उपनिवेश, राजनैतिक संबंधों और क्षेत्रीय निवास से बंधे थे।"[3]

किंतु यह भी विचारणीय है कि पश्चिम में 'नेशन' को लेकर यह अवधारणा बनी कैसे? "पश्चिम की राजनैतिक अराजकता को स्थिर करने के लिए राष्ट्र राज्यों की स्थापना की गई। राष्ट्र राज्य की स्थापना को संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्रामाणिकता प्रदान की। पश्चिम का राष्ट्र का विचार कहता है कि "यह भौतिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है" (कार्ल मार्क्स)।... पश्चिम में जो चर्चा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को लेकर के आरंभ हुई वैसा राष्ट्र पश्चिम में कभी नहीं बना। भाषा के आधार पर राष्ट्रों का गठन पश्चिम में किया गया जिन्हें उन्होंने सेकुलर नेशन स्टेट कहा। नेशन स्टेट ने अपनी प्रभुता बढ़ाने के लिए साम्राज्य बनाए। साम्राज्यवाद का विस्तार करने के लिए ही यूरोपीय देश आपस में लड़े और दो बार यूरोपीय युद्ध हुए जिन्हें विश्वयुद्ध कहा गया, यद्यपि वह विश्वयुद्ध नहीं थे, केवल यूरोपीय युद्ध ही थे। क्योंकि उनमें यूरोपीय देशों ने ही भाग लिया था या उनके अधीन रहने वाले देशों को मजबूरी से इस युद्ध में भाग लेना पड़ा था। इन साम्राज्यवादी शक्तियों के अधीन देशों ने जब

इन शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह किया तो इसे राष्ट्रवाद का जागरण कहा गया"।[4]

राष्ट्र की पौर्वात्य अवधारणा पाश्चात्य अवधारणा से भिन्न है। "राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति रज धातु से हुई है। जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन' प्रत्यय जोड़ा गया है। तदनुसार इसका अर्थ है - 'राजते दीप्यते प्रकाशते शोभते इति राष्ट्रम' अर्थात जो स्वयं देदीप्यमान होने वाला है वह राष्ट्र कहलाता है। 'राजते तत राष्ट्रम' व्युत्पत्ति से संकेत मिलता है कि वह भूभाग जो सर्वतंत्र स्वतंत्र हो, किसी से दबाया न गया हो, राष्ट्र कहलाता है" (तिवारी, डॉ. शशि)[5]। पौर्वात्य अवधारणा के अनुसार राष्ट्र केवल भूखंड से अथवा उसमें रहने वाली जनता के समान भाषा बोलने या उनकी जाति अथवा उनका वंश समान होने मात्र से नहीं बनता। भाषा या वंश का आधार स्वयं में अधूरा आधार है। "इसलिए यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि एक राष्ट्र वंशवादी सिद्धांत के बिना अस्तित्व में रह सकता है, और जो राष्ट्र राजवंशों द्वारा बनाए गए हैं उन्हें अस्तित्व समाप्त किए बिना उनसे अलग किया जा सकता है"।[6] राष्ट्र की पाश्चात्य अवधारणा के आधार के रूप में यदि हम भाषा को स्वीकार करें तो सभी देश जो एक ही भाषा बोलते हैं वह एक ही राष्ट्र होने चाहिए, किंतु ऐसा भी नहीं है।" हमने अभी नस्ल के बारे में जो कहा है वह भाषा पर भी लागू होता है। भाषा लोगों को एकजुट होने के लिए आमंत्रित करती है लेकिन यह उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैंड, लैटिन अमेरिका और स्पेन एक ही भाषा बोलते हैं फिर भी एक राष्ट्र का निर्माण नहीं करते हैं। इसके विपरीत, स्विट्जरलैंड, बहुत अच्छी तरह से बनाया गया है, क्योंकि वह अपने विभिन्न भागों में तीन या चार भाषाओं की सहमति से बनाया गया था"।[7] यद्यपि केवल भूखंड का होना पर्याप्त नहीं है किंतु यह महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। जब तक उस भूखंड में रहने वाली जनता अपनी संस्कृति एवं मातृभूमि के लिए सर्वस्व त्याग करने की भावना से स्वयं को संबद्ध नहीं करती तब तक वह एक राष्ट्र नहीं है। ऐसा होने पर यदि उनकी भाषा-भूषा अलग हो या उनकी जाति और वंश अलग हो, तब भी वह एक राष्ट्र के रूप में अखंड रहेंगे।

"राष्ट्र, लोगों के एक ऐसे समूह या समुदाय को इंगित करता है जो पारंपरिक रूप से किसी विशेष भूमि में रहता रहा है, जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है, और जो अपनी संस्कृति की विशिष्टता के आधार पर दुनिया के अन्य लोगों से अलग पहचान रखता है। किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक विशिष्टता उसकी नस्ल, या धर्म, या भाषा, या इनमें से कुछ या सभी कारकों के संयोजन पर आधारित हो सकती है, लेकिन कुल मिलाकर एक विशिष्ट संस्कृति होनी चाहिए जो राष्ट्र को अलग पहचान देती है तथा अन्य भूमि से संबंधित लोगों से उसे भिन्न करती है। तीसरा, इससे संबंधित लोगों के बीच कई मामलों में आंतरिक मतभेद हो सकते हैं किंतु यह संस्कृति इन मतभेदों के बावजूद उनकी संस्कृति के मूल तत्त्वों से पैदा हुई सद्भाव की समग्र भावना है, और गर्व की भावना है जो उनमें बाकी दुनिया से अपनी अलग पहचान बनाए रखने की इच्छा पैदा करती है। अंततः, इन कारकों के परिणामस्वरूप, लोगों के इस समूह का अपनी पारंपरिक मातृभूमि के इतिहास के प्रति अपना दृष्टिकोण है; इसके अपने नायक और खलनायक हैं, महिमा और शर्म, सफलता और विफलता, जीत और हार के बारे में इसका अपना दृष्टिकोण है"।[8]

"उपरोक्त विशेषताओं से युक्त लोगों का समुदाय एक राष्ट्र है, और जिस देश में वह परंपरागत रूप से रहता रहा है, और जहाँ उसने अपनी विशिष्ट संस्कृति विकसित की है, उसे उस राष्ट्र की मातृभूमि, उसकी पारंपरिक मातृभूमि कहा जाता है।... दूसरे शब्दों में, एक राष्ट्र एक क्षेत्रीय इकाई नहीं है बल्कि एक क्षेत्रीय आधार वाली भावनात्मक इकाई है। जैसा कि श्री अरबिंदो ने कहा था, 'एक राष्ट्र वास्तव में भावनाओं के समुदाय की बाहरी अभिव्यक्ति है चाहे वह एक सामान्य रक्त की भावना हो, या एक सामान्य धर्म की भावना हो, या एक सामान्य हित की भावना हो, या इनमें से कोई एक या सभी ये भावनाएँ संयुक्त थीं।"[9]

राज्य की अवधारणा

'राज्य' शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द 'स्टेट' (state)का हिंदी अनुवाद है जिसकी उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'पोलिस' (Polis) से हुई है। प्राचीन यूनान में नगर राज्यों को 'पोलिस' कहा जाता था। राजनीति विज्ञान के विद्वानों द्वारा 'राज्य' शब्द की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी जाती हैं। अंतरराष्ट्रीय डिक्शनरी 'वेब्स्टर' में दी गई परिभाषा के अनुसार, एक जनसमूह, जो एक भूमिखंड (देश) में स्थाई रूप से रहता हो और राजनैतिक विचार से एक संगठित स्व-सत्ता संपन्न शासक हो और पूर्णतः विदेशी नियंत्रण से मुक्त हो तथा अपने समुदाय में नियंत्रण रखने की सामर्थ्य रखता हो।राज्य से अभिप्राय वास्तव में उस शासकीय व्यवस्था से है जो देश में कानून-व्यवस्था के माध्यम सेशांति बनाए रखने में सहायता करती है।

राज्य को हिंदू राजनीति में दंड कहाँ है अर्थात उच्छृंखल व्यक्तियों को ठीक मार्ग पर रखने के लिए दंड व्यवस्था। राज्य का मुख्य अधिकारी - राजा, प्रधान अथवा भारत के वर्तमान संविधान के अनुसार प्रधानमंत्री माना जा सकता है। एकात्म मानवदर्शन के प्रणेता दीनदयाल जी के विचार की

राष्ट्र, लोगों के एक ऐसे समूह या समुदाय को इंगित करता है जो पारंपरिक रूप से किसी विशेष भूमि में रहता रहा है, जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है, और जो अपनी संस्कृति की विशिष्टता के आधार पर दुनिया के अन्य लोगों से अलग पहचान रखता है। किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक विशिष्टता उसकी नस्ल, या धर्म, या भाषा, या इनमें से कुछ या सभी कारकों के संयोजन पर आधारित हो सकती है, लेकिन कुल मिलाकर एक विशिष्ट संस्कृति होनी चाहिए जो राष्ट्र को अलग पहचान देती है तथा अन्य भूमि से संबंधित लोगों से उसे भिन्न करती है

व्याख्या करते हुए डॉ. महेश चंद्र शर्मा लिखते हैं - "1. राज्य की उत्पत्ति समाज के बाद हुई। 2. राज्योत्पत्ति पूर्व समाज सहजधर्म का पालक था, धर्मविधायक ऋषि व प्रजापति ब्रह्मा स्वयं राजा नहीं थे। 3. राज्य मानवीय विकारों की उत्पत्ति है। वह प्रजा में उत्पन्न हुए लोभ, क्रोध आदि धर्म को हानि पहुँचानेवाले तत्त्वों के खिलाफ निरूपित हुआ। अत: राज्य का प्रारंभिक स्वरूप नकारात्मक था, दंड नीति के रूप में। ... 5. राजा राज्य और प्रजा के दोहरे समझौते में से उत्पन्न हुआ। धर्म स्थापना का कार्य ऋषियों का तथा धर्म संरक्षण का कार्य राजा का माना गया। (विधायिका व कार्यपालिका में पृथक्करण)... 8. राज्य समाज की एक संस्था है, संपूर्ण समाज नहीं"।[10] राज्य की दृष्टि में ना कोई मजहब है, ना कोई वर्ग है। सब देश के रहने वाले देश के नागरिक हैं और समान हैं।

राष्ट्र राज्य की अवधारणा का उद्‌भव वेस्टफीलिया की संधि से माना जाता है जिसके अनुसार राष्ट्र और राज्य एक ही माना जाता है। आज जिन देशों में संसदीय राज्य प्रणाली है उन देशों में राज्य और राष्ट्र दोनों को सामान्यता एक ही अर्थ में लिया जाता है। किंतु राष्ट्र और राज्य की अवधारणा में अंतर है। वास्तव में राष्ट्र की अवधारणा राज्य से अधिक व्यापक है। "जबकि सच्चाई यह है कि भारत में हजारों साल पहले ऋग्वेद काल में, जब ब्रिटिश शासन की कल्पना भी किसी को नहीं रही होगी, तब हमारे मनीषियों ने 'राष्ट्रे वयं जागृयाम पुरोहिता:' कहकर राष्ट्र का मूर्त रूप प्रस्तुत किया, यह राष्ट्र राज्य नहीं है"।[11] हिंदुस्तान में अशोक पहला राजा था जिसने बौद्ध संप्रदाय को राजकीय संरक्षण देकर राष्ट्र को राज्य में मिलाने का प्रयास किया। वर्तमान व्यवस्था में अनेक स्थानों पर राज्य राष्ट्र के अधिकारों का अतिक्रमण करता दिखाई देता है। अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ भारत में शिक्षा व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण नहीं था। यद्यपि मुगलों के शासनकाल में राजकार्य की भाषा फारसी थी। यदि किसी को राजकार्य से जुड़ना होता था तो उसे फारसी सीखनी पड़ती थी। किंतु इसकी कोई राजकीय व्यवस्था नहीं थी, अर्थात राजकीय संरक्षण में ही शिक्षा होगी, ऐसी व्यवस्था नहीं थी। किंतु अंग्रेजों ने न केवल शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी किया अपितु उसे राज्य के अंतर्गत भी ले आए जो कि राष्ट्र का कार्य है। इसलिए मैकाले से पूर्व भी राज्य अवश्य अंग्रेजों के पास चला गया था किंतु राष्ट्र की अपनी पृथक व्यवस्था थी। वर्तमान समय में भी राज्य का ढाँचा प्रजातांत्रिक होने से राज्य अधिक शक्तिशाली हो गया है। इसी कारण से वर्तमान समय में राज्य का हस्तक्षेप लगातार राष्ट्र के कार्यों में बढ़ता जा रहा है। इसलिए वर्तमान समय में ऐसे अनेक कार्य हैं जो राष्ट्र के कर्तव्य हैं किंतु कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अंतर्गत राज्य के अधीन आ गए हैं। जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य तो पहले से ही राज्य ने अपने हाथों में ले लिए थे, उद्योग चलाने से लेकर लॉटरी और शराब बेचने जैसे अवांछित कार्य भी राज्य द्वारा केवल अधिक आय प्राप्ति के लिए किए जा रहे हैं।

भारत राज्य है अथवा राष्ट्र है?

भारत में तो राष्ट्र बहुत पहले ही वैदिक काल में बन चुका था। "भू, जन और संस्कृति के संघात से राष्ट्र उत्पन्न होते हैं। हम भारत को भारत माता कहते हैं क्योंकि हम भारत को अपनी जन्मभूमि और कर्मभूमि मानने के साथ-साथ उसे अपनी पुण्यभूमि भी मानते हैं। किंतु जो भारत को अपनी पुण्यभूमि नहीं मानता वह कभी भी उसे भारत माता के रूप में नहीं देख सकता। उसके लिए वह केवल भूमि का टुकड़ा है जिसका उसे भोग करना है। इसलिए वह कभी भी उसके लिए माँ के समान नहीं हो सकती। राष्ट्रवाद में जो वाद है वह भी भारतीय अवधारणा नहीं है, वह तो पश्चिम से आया हुआ शब्द है। भारतीय विचार राष्ट्रीयता का विचार है। जब भू, जन और संस्कृति के संघात पर व्यवधान आते हैं तो राष्ट्र संज्ञा पर विवाद उत्पन्न होता है। पाश्चात्य दर्शन में वास्तव में आज भी राष्ट्र की कोई उचित परिभाषा नहीं है। राष्ट्रों के संघ अर्थात संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जिसे मान्यता दे दी जाती है उसे राष्ट्र मान लिया जाता है। इसलिए राष्ट्रों की संख्या निरंतर घटती-बढ़ती रहती है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ जिसे नेशन कहता है वह राष्ट्र की परिभाषा नहीं हो सकती। पश्चिम की राष्ट्र की परिभाषा राजनैतिक सीमा पर आधारित है जबकि हमारे राष्ट्र की परिभाषा भू-सांस्कृतिक परिभाषा है"।[12]

राष्ट्र का जितना संबंध शिक्षा और अर्थव्यवस्था से है उससे कहीं अधिक संबंध धर्म व्यवस्था से है।[#] धर्मव्यवस्था और न्याय व्यवस्था की सभाओं का निर्माण भी राष्ट्र को ही करना चाहिए।... राष्ट्र में सभी घटक समान अधिकार रखते हैं। यही प्रजातंत्र का विधान है। परंतु अधिकार योग्यता पर आधारित होने चाहिए। समान योग्यता होने पर उन समान योग्यता वालों में मजहब, जाति, लिंग, जन्म, स्थान इत्यादि के कारण भेद नहीं होना चाहिए, यही समानता का अर्थ है। समानता का यह अर्थ नहीं है कि चक्षुविहीन और चक्षु रखने वालों को समान अधिकार दे दिया जाए अथवा एक व्यक्ति जो पाँचवीं श्रेणी की परीक्षा भी पास नहीं कर सका उसे न्यायाधीश चुनने का अधिकार दे दिया जाए। प्रजातंत्र का यह अर्थ नहीं होता। आज प्रजातंत्र का यही अर्थ समझा जाता है कि प्रधानमंत्री से लेकर एक सामान्य गाँव की पंचायत के सरपंच तक को चुनने का अधिकार सब नागरिकों को समान रूप से प्राप्त है। प्रजातंत्र का अर्थ यह है कि समानगुण, कर्म, स्वभाव रखने वालों को समान अधिकार

[#]शर्मा, बलदेव भाई, भारत : सांस्कृतिक चेतना का अधिष्ठान (प्रभात प्रकाशन), पृ. 58-59

यूरोपीय संदर्भ में केवल आर्थिक और राजनैतिक इकाई के रूप में राष्ट्र की अवधारणा से भिन्न भारत राष्ट्र के रूप में एक सांस्कृतिक इकाई है। इसके तीन प्रमुख तत्व हैं - 1. एक विशाल भूखंड, 2. इसके प्रतिमातृ भूमिका भाव रखने वाला पुत्र वत समाज 3. इतिहास, संस्कृति, महापुरुषों और जीवन मूल्यों के प्रति उस समाज की सामान अनुभूति। येतत्व ही राष्ट्र के स्वरूप को स्थूल, भौगोलिक या भौतिक इकाई से ऊपर एक जीवमान अभिव्यक्ति देते हैं। इसमें से परस्पर एकात्मता की भावना सुदृढ़ होती है और समाज में शांति, सौहार्द व बंधुत्व का भाव बढ़ता है। यजुर्वेद के पृथ्वी सूक्त में 'माता भूमि पुत्रो अहंपृथिव्या: कहकर इसी राष्ट्रभाव को और मजबूत किया गया है।

इसी एकात्मता को अक्षुण्ण रखना, इसके प्रति गौरव अनुभव करना और और उसपर किसी प्रकार की आंचन आने देना ही राष्ट्रवाद है।... क्योंकि भारत का राष्ट्रवाद 'सर्वेषांअविरोधेन', 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' और 'वसुधैव कुटुंबकम' जैसे हमारे जीवन मूल्यों पर टिका है। इसलिए भारत के राष्ट्रवाद की तुलना जर्मनी या अन्य यूरोपीय राष्ट्रवाद से नहीं की जा सकती है।

दिए जाएँ।.. इस प्रकार राष्ट्र के कार्यशिक्षा, अर्थव्यवस्था, राज्य, धर्म व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था है। यद्यपि कालांतर में भारत के राष्ट्र होने के लक्षणों में सेअनेक लक्षणों का लोप होता रहा है जिसका परिणाम यह है कि वह अब एक राज्य के होने का भ्रम देता है।

राष्ट्र के रूप में हमारी जड़ें बहुत पुरानी हैं, यहाँ तक कि कालांतर में छोटी-छोटी रियासतों में बँटने के बाद भी और अलग-अलग भाषा और वेशभूषा की विविधता के बाद भी हम राष्ट्र के रूप में अपनी एक ही पहचान रखते थे। ऐसा ही उदाहरण हमें इजरायल के रूप में भी दिखाई पड़ता है जहाँ डेढ़ हजार से भी अधिक वर्षों तक यहूदी विश्व के अलग-अलग भागों में रहते थे। किंतु एक राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए दृढ़ संकल्पित थे। इसीलिए जब सन 1948 में उन्हें अपना भू-भाग मिला तो उन्होंने अपना देश और राज्य स्थापित कर लिया। "विभिन्न ऐतिहासिक उदाहरणों के माध्यम से यह कहा कि सार्वभौम राज्य प्राप्त किए बिना भी एक राष्ट्र का अस्तित्व हो सकता है"। हमारे पास तो हमारा भू-भाग अर्थात देश तथा राष्ट्र के रूप में संकल्पित जनता पहले से ही थी। यद्यपि राज्य अवश्य पहले मुसलमानों और फिर अंग्रेजों के पास चला गया था। विदेशियों के अधीन राज्य होने पर भी भारत एक संपन्न राष्ट्र सदैव बना रहा। 1947 में भारत का विभाजन मजहब के आधार पर कर दिया गया। पश्चिमी विचार के आधार पर एक ही राष्ट्र से दो राष्ट्र बन गए। किंतु यदि मजहब ही अलग राष्ट्र के बनने के लिए पर्याप्त आधार था तो एक ही मजहब के मानने वाले फिर से पाकिस्तान और बांग्लादेश में क्यों बँट गए? यदि सांस्कृतिक विरासत की भिन्नता है तो लोग मजहब समान होने पर भी साथ नहीं रह सकते। यदि वर्तमान समय में भी देखें तो भारत में जैन, बौद्ध, आर्यसमाज, सनातन जैसे अनेक मत और पूजा पद्धति में विश्वास रखने वाले लोग स्नेह से रह रहे हैं।

राष्ट्र के रूप में हमारी जड़ें बहुत पुरानी हैं, यहाँ तक कि कालांतर में छोटी-छोटी रियासतों में बँटने के बाद भी और अलग-अलग भाषा और वेशभूषा की विविधता के बाद भी हम राष्ट्र के रूप में अपनी एक ही पहचान रखते थे। ऐसा ही उदाहरण हमें इजरायल के रूप में भी दिखाई पड़ता है जहाँ डेढ़ हजार से भी अधिक वर्षों तक यहूदी विश्व के अलग-अलग भागों में रहते थे। किंतु एक राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए दृढ़ संकल्पित थे। इसीलिए जब सन 1948 में उन्हें अपना भू-भाग मिला तो उन्होंने अपना देश और राज्य स्थापित कर लिया

संविधान की आवश्यकता

सृष्टि के आरंभ में किसी राजा या संविधान की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि प्रकृति द्वारा जो प्रदान किया जा रहा था वह उस समय की जनसंख्या की उपभोग आवश्यकताओं से बहुत अधिक था। इसलिए कोई छीनने की प्रवृत्ति नहीं थी। किंतु धीरे-धीरे मनुष्य की इच्छाएँ ही उसकी आवश्यकताएँ बनती चली गई जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकाधिक उपभोग करने को ही जीवन की गुणवत्ता का पैमाना माना जाने लगा। इसके कारण प्रकृति प्रदत्त संसाधनों के अधिकाधिक संचय और दोहन की प्रवृत्ति मनुष्य के अंदर बढ़ती चली गई। समाज को सुचारु रूप से चलने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता भी महसूस की गई। उस समय विद्वान लोगों ने मिलकर इस पर चिंतन किया और इस समस्या के समाधान के रूप में राज्य की स्थापना के विचार का जन्म हुआ है। चाहे वह मोसेस के समय में दस नियमों (Ten Commandments) का पालन करना हो या फिर उससे भी हजारों वर्ष पूर्व भारत में जब पृथ्वी का प्रथम संविधान विद्वत समाज द्वारा तैयार किया गया हो। "एक धर्मशास्त्र अर्थात दंड विधान की कल्पना की गई और एक दृढ़ निष्ठ राजा को व्यवस्था पालक के रूप में नियुक्त किया गया। वह प्रथम राजा कर्दम का पुत्र अनङ्ग था और उसे ब्रह्मा द्वारा बनाई गई स्मृति के अनुसार राज्य करने का कार्य दिया गया। अनङ्ग ने ब्रह्मा के धर्मशास्त्र अनुसार शासन किया और उसके बाद उसका पुत्र अतिबल राजा बना और फिर उसकी मृत्यु के पश्चात उसी का पुत्र वेन राजा बना। आरंभ में वेन नेधर्म अनुसार शासन करना आरंभ किया किंतु बाद में वह निरंकुश और अत्याचारी हो गया। वेन ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही शक्ति और धन का संचय करना आरंभ कर दिया। उसने धर्मपरायण, भले और विद्वान लोगों को ही कष्ट देना शुरू कर दिया। तब समाज के विद्वान लोगों ने ही समाज को संगठित कर वेन को मरवा डाला। वेन केमारे जाने के बाद प्रश्न था कि किसको राजा बनाया जाए जो कि धर्म अनुसार राज्य करें और अपने मार्ग सेन भटके। ऋषियों और विद्वानों ने मिलकर पृथु नाम के एक ऐसे व्यक्ति की खोज की जो क्षत्रिय था और धर्मपरायण था। पृथ्वी का राजा बनाने से पूर्व विद्वान लोगों ने उसकी परीक्षा ली और उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर उससे वचन लिया गया कि वह धर्म के नियमों का पालन करेगा"। यही संसार का सबसे पहला संविधान था जो समाज के विद्वान लोगों ने बनाया था। ऋषियों और विद्वानों द्वारा बनाए गए इन नियमों का पालन सभी को करना था जिसमें राजा भी शामिल था। इस प्रकार जो पहला विधायन तैयार हुआ वह समाज द्वारा तैयार किया गया जिसमें राज्य की कोई भूमिका नहीं थी।

राजा पृथुने शपथ लेते समय यह आश्वासन दिया कि वह न केवल इस धर्म का स्वयं पालन करेगा अपितु अपने राज्य में भी सभी से इस धर्म का पालन करवाएगा। राष्ट्र के संबंध में यह नियम वास्तव में आधारभूत सिद्धांत हैं जो अपरिवर्तनीय है। इसके अतिरिक्त जितनी भी बातें हैं वह सबसमय और काल की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तनीय है। इसलिए यह संविधान देखने में अत्यंत ही छोटा प्रतीत होता है किंतु इस छोटे से संविधान

ने भी उस समय राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूरा किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि पृथु ने लंबे समय तक धर्मपूर्वक और न्याय पूर्वक इस प्रकार शासन किया कि वह आने वाले राजाओं के लिए अनुकरणीय बना। ऐसा कहा जाता है कि भगवान विष्णु स्वयं राजा पृथु के राज्य में विराजमान रहते थे और उनके राज्य में धन-धान्य, सुख और संपत्ति सब ओर उपस्थित थी। सामान्य भाषा में हम जिस रामराज्य की कल्पना करते हैं, यह उसी प्रकार का राज्य था। संविधान वास्तव में राष्ट्र और राज्य की सीमाओं और कार्यों को निर्धारित करता है।

पश्चिम में जब 'मैग्ना कार्टा' (Magna Carta) के रूप में पहला संविधान बना तब वह अलग-अलग वर्गों की स्वार्थ प्रेरित राजनैतिक विवशताओं और राज परिवार की आवश्यकताओं का परिणाम था। यही स्थिति संयुक्त राष्ट्र संघ की भी थी जो द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न अशांति और असुरक्षा के भाव से उत्पन्न हुआ था। किंतु पृथु के समय में जो संविधान बना वह समाज के ऋषियों द्वारा तैयार किया गया था जिसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था अपितु संपूर्ण राष्ट्र के कल्याण का भाव था। वर्तमान समय में सरकार नियम बनाती है या हम कह सकते हैं कि लोकतांत्रिक देशों में संसद नियम बनाती है। किंतु क्या जिस जनता के लिए वह नियम बनाए जाते हैं उससे कोई चर्चा की जाती है या परामर्श लिया जाता है? नहीं। जनता से अपेक्षा की जाती है कि वह उन नियमों का पालन करे चाहे वह उसके लिए कष्ट कर ही क्यों न हों। उदाहरण के रूप में सरकार अनेक प्रकार के करों का बोझ जनता के ऊपर बढ़ाती जाती है किंतु सांसद जो जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं वह उसकी कोई चिंता नहीं करते। फिर प्रश्न उठता है कि इसकी उचित व्यवस्था क्या होनी चाहिए? वर्तमान समय में जब तकनीक निरंतर विकसित होती जा रही है, जनता की राय को विशेष उद्देश्यों और नियमों के लिए जानना कोई कठिन कार्य नहीं है।अंतत: कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अंतर्गत सरकार जनता के कल्याण के लिए ही प्रतिबद्ध होती है। इसलिए जनता की राय को जानना राज्य का दायित्व हो जाता है।

निष्कर्ष

वर्तमान संविधान में देश का प्रत्येक कार्य शासक (मंत्रिमंडल) के अधीन कर दिया गया है। वर्तमान संविधान की यही सबसे बड़ी त्रुटि है। जब शासन किसी कार्य को ठीक प्रकार नहीं कर सकता, तो वह राष्ट्र के स्वरूप को ही विकृत करने लगता है। यह आज की समस्या नहीं है, संविधान निर्माण की प्रक्रिया के साथ ही इसका आरंभ हो गया था। "जिस सपने के आधार पर नए भारत के निर्माण का जतन किया जा रहा था, वह अब लगभग मर चुका था। संविधान सभा की बैठक ब्रिटिश सरकार की मर्जी से हो रही थी और सभा के विचार विमर्श में देश का एक चौथाई हिस्सा भाग ही नहीं ले रहा था। क्या इस निकाय के पास अपनी कोई सत्ता या ऐसा प्राधिकार था जिसे वह अपना कह सके? क्या वह पूरे भारत की नुमाइंदगी कर सकता था? क्या इसे संप्रभु कहा जा सकता था"?

यदि देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना है तो राष्ट्र को राज्य से अधिक सशक्त होना होगा। राज्य सदैव ही अधिक शक्ति संपन्न होने के लिए प्रयासरत रहता है किंतु यदि समाज राष्ट्र के रूप में संगठित है तो राज्य को आवश्यकतानुसार उसकी सीमाओं का ज्ञान करा सकता है। क्योंकि राष्ट्र का संबंध संस्कृति से होता है। नेशन की अवधारणा जिन सीमाओं में बँधी है उनमें यह संभव नहीं।[#] राष्ट्र के नागरिकों में राष्ट्रीयता की भावना उनकी अनेक सामाजिक समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकती है जिसके लिए वह राज्य पर निर्भर रहते हैं। तब विधायन राष्ट्र के नागरिकों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करता है, राज्य के हथियार के रूप में उनके जीवन को नियंत्रित नहीं करता।

[#] शर्मा, डॉ महेश चंद्र; पं दीनदयाल उपाध्याय: कर्तृत्व एवं विचार', "उपाध्याय ने पश्चिम के 'राष्ट्रवाद' की अवधारणा को विश्वशांति के प्रतिकूल विवेचित किया है तथा उसमे अव्यवस्थित राजनीतिक तत्त्व की भी आलोचना की है"। पृ. 198

संदर्भ-

1. Journal of Emerging Technology and Innovative Research (JETIR, May 2017, Volume 4, Issue 5) पृ. 587
2. वही, पृ. 588
3. Anthony, D Smith, The Ethnic Origins of Nations, पृ. 140
4. शर्मा, डॉ. महेशचंद्र, राष्ट्र की अवधारणा, दत्तोपंत स्वाध्याय मंडल द्वारा आयोजित वेबिनार (March 01, 2022) Link:https://www.google.com/search?q=rashtr+ki+avdharana+mahesh+chandr&rlz=1C1RXQR_enIN1006IN1006&oq=rashtr+ki+avdharana+mahesh+chandr&aqs=chrome..69i57j33i10i160l4.11581j1j15&sourceid=chrome&ie=UTF-8#fpstate=ive&vld=cid:f1a572cb,vid:8di47kHm2jg,st:0
5. क्र. i, पृ. 587
6. Renan, Ernest, Nation and Narration (Translated and annotated by Martin Thom), पृ. 13
7. वही, पृ. 16
8. मुखर्जी, आभास, द कांसेप्ट ऑफ हिंदू नेशन, पृ. 4
9. वही, पृ. 5
10. शर्मा, डॉ महेश चंद्र, पं. दीनदयाल उपाध्याय : कर्तृत्व एवं विचार, पृ. 170
11. शर्मा, बलदेव भाई, भारत : सांस्कृतिक चेतना का अधिष्ठान (प्रभात प्रकाशन), पृ. 58
12. क्र. iv
13. वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान हिन्दू राष्ट्र, गुरुदत्त, पृ. 95-96
14. प्रधान, रामचंद्र, राज से स्वराज : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद का इतिहास, पृ53
15. गुरुदत्त, राष्ट्र, राज्य और संविधान, पृ.14
16. ग्रेनविल, ऑस्टिन 'द इंडियन कांस्टीट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑफ एनेशन') का हिंदी अनुवाद 'भारतीय संविधान: राष्ट्र की आधारशिला; नरेश गोस्वामी पृ. 36-37

प्रभात

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

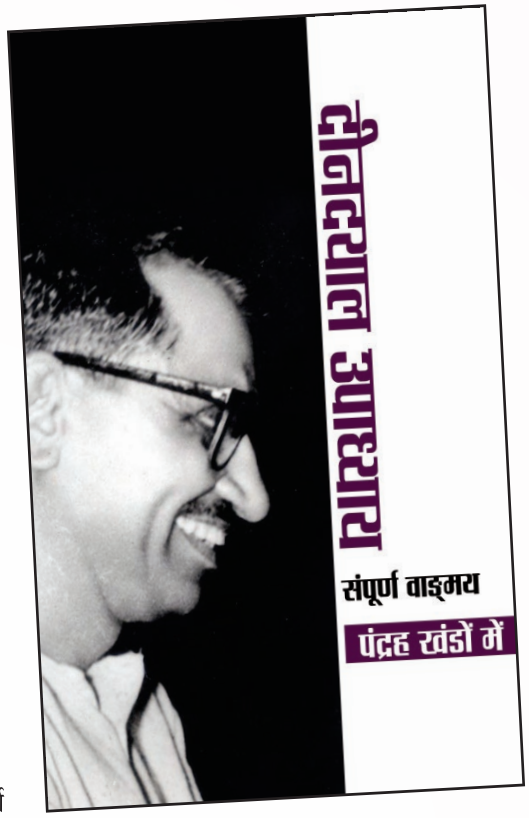

संपादक मंडल

• प्रो. देवेंद्र स्वरूप • श्री रामबहादुर राय • श्री अच्युतानंद मिश्र • श्री जवाहरलाल कौल
• श्री नंदकिशोर त्रिखा • श्री के.एन. गोविंदाचार्य • श्री ब्रजकिशोर शर्मा • डॉ. विनय सहस्रबुद्धे
• श्री अशोक टंडन • डॉ. सीतेश आलोक • श्री आलोक कुमार • श्री बलबीर पुंज
• डॉ. चमनलाल गुप्त • डॉ. भारत दहिया • श्री बनवारी • श्री हितेश शंकर • श्री प्रफुल्ल केतकर
• डॉ. रामप्रकाश शर्मा 'सरस' • श्री अतुल जैन • डॉ. राजीव रंजन गिरि • डॉ. वेद मित्र शुक्ल
• श्री राहुल देव • श्री उमेश उपाध्याय • श्री जगदीश उपासने • श्री सुशील पंडित
• श्री ज्ञानेंद्र बरतरिया • श्री भरत पंड्या • श्री मुज़फ़्फ़र हुसैन • श्री प्रभात कुमार • श्री स्वदेश शर्मा

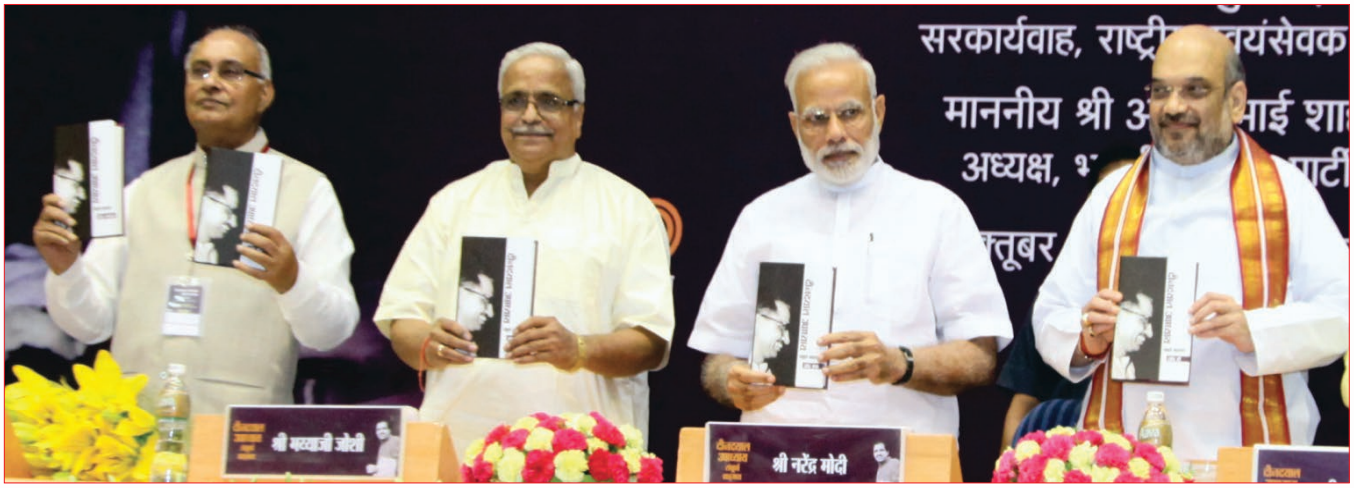

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

''यह पंडितजी की जीवन-यात्रा, विचार-यात्रा और संकल्प-यात्रा की त्रिवेणी है। यह दिन इस त्रिवेणी का प्रसाद लेने का दिन है। पं. दीनदयाल उपाध्यायजी कहा करते थे कि अपने सुरक्षाबलों को मजबूत किए बिना कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता, इसलिए सुरक्षा-तंत्र मजबूत होना ही चाहिए। पंडितजी द्वारा कही गई बातें आज भी इतनी ही प्रासंगिक हैं।''

–श्री नरेंद्र मोदी, प्रधानमंत्री, भारत

''विचारों का छोटा सा बीज पं. दीनदयालजी ने बोया था, आज वह वटवृक्ष के रूप में खड़ा होकर न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में अग्रसर है। उनका साहित्य उनकी सरलता, दूरदर्शिता और संकल्पशक्ति का परिचय कराएगा।''

–श्री अमित शाह, राष्ट्रीय अध्यक्ष, भाजपा

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2008 प्रकाशक
4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23257555
E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✤ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन
अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
☎ 011-23210074
इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः .....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : +91-9868550000, 011-23210074

ई–मेल: info@manthandigital.com

उत्तराखण्ड शासन

आज़ादी का अमृत महोत्सव

आगे बढ़ता उत्तराखण्ड

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के दिशा निर्देश व मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के कुशल नेतृत्व में डबल इंजन सरकार में उत्तराखण्ड विकास के नए आयाम गढ़ रहा है।

संकल्प
नये उत्तराखण्ड का

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

सपनों का साकार करती उत्तराखण्ड सरकार

- राष्ट्रीय पर्यटन पुरस्कार-भारत सरकार, पर्यटन मंत्रालय द्वारा उत्तराखण्ड पर्यटन को सर्वश्रेष्ठ साहसिक गतव्य के रूप में तथा पर्यटन के सर्वांगीण विकास हेतु वर्ष 2022 में पुरस्कृत किया गया।

- श्री केदारनाथ उत्थान चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा भारत सरकार के सार्वजनिक उपक्रमों से सी0एस0आर0 मद के अन्तर्गत प्रथम चरण में ₹225 करोड़ के कार्य पूर्ण कराये गये है तथा वर्तमान में दूसरे चरण में ₹198 करोड़ के निर्माण कार्य एवं तीर्थ यात्रियों हेतु आवासीय सुविधाऐं विकसित किये जाने हेतु ₹190 करोड़ के कार्य गतिमान है। जिनका वर्ष 2024 तक पूर्ण कराये जाने का लक्ष्य निर्धारित है।

- वर्ष 2023 चार धाम यात्रा के दौरान 55 लाख से अधिक श्रद्धालुओं / यात्रियों द्वारा चार धाम के दर्शन किये गये हैं।

- प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी के दिशा-निर्देशों पर बद्रीनाथ धाम को Smart Spiritual Hill Town के रूप में विकसित किये जाने के उद्देश्य से राज्य सरकार द्वारा चरणवद्ध रूप से कार्य किये जा रहे है। भारत सरकार के विभिन्न सार्वजनिक उपक्रमों से ₹273 करोड के कार्य निगमित सामाजिक उत्तरदायित्व निधि के अंतर्गत कराये जा रहे हैं। इन कार्यों में घाट निर्माण, रेन सेल्टर, टूरिस्ट इन्टरपिटेशन सेन्टर आदि अवस्थापना सुविधाओं के कार्य किये जा रहे है। उक्त के अतिरिक्त तीर्थ यात्रियों हेतु आवासीय सुविधाऐं विकसित किये जाने हेतु ₹40 करोड के कार्य सी0एस0आर0 मद के अन्तर्गत गतिमान है।

- गोविंदघाट से हेमकुंड साहिब तथा सोनप्रयाग-केदारनाथ तक रोपवे का निर्माण कार्य आगामी वर्षों में पूर्ण करने का लक्ष्य।

- नंदा गौरा योजना के अन्तर्गत पात्र परिवार की 02 बालिकाओं को दो किश्तो क्रमशः जन्म के समय ₹11000 एवं बालिका द्वारा कक्षा 12वीं उत्तीर्ण करने पर ₹51000 की धनराशि डी.बी.टी. के माध्यम से उपलब्ध करायी जाती है। वर्तमान में योजनान्तर्गत अपणि सरकार पोर्टल के माध्यम से ऑनलाइन आवेदन जमा करने की प्रक्रिया गतिमान है।

- मुख्यमंत्री बाल पोषण योजना के अंतर्गत राज्य में बच्चों के वजन एवं पोषण में सुधार, शारीरिक विकास, स्कूल पूर्व बच्चों (3 वर्ष से 06 वर्ष) को आंगनवाडी केन्द्रों पर प्रवेश को प्रोत्साहित करने के लिए, बच्चों को सप्ताह में दो दिन अण्डा एवं दो दिन केले चिप्स योजना के अन्तर्गत उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, उत्तराखण्ड द्वारा जनहित में जारी

www.uttarainformation.gov.in UttarakhandDIPR DIPR_UK UttarakhandDIPR

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)

यही समय है, सही समय है,

उत्तराखण्ड में निवेश का

DESTINATION UTTARAKHAND
GLOBAL INVESTORS SUMMIT 2023
Peace To Prosperity

"माननीय प्रधानमंत्री जी के मार्गदर्शन में उत्तराखण्ड की आर्थिकी और पर्यटन विकास में वृद्धि हुई है। हमारा राज्य व्यापार के लिए सदैव खुला है, जो निवेशकों को व्यापक अवसर प्रदान करता है । सुव्यवस्थित उद्योग की मंजूरी से लेकर निवेशकों को प्रोत्साहित करने तक हम सदैव प्रतिबद्ध हैं। अपने उद्यमों के लिए एक सम्पन्न पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण हमारी प्राथमिकता है। आइये मिलकर उत्तराखण्ड के भविष्य को नया आकार प्रदान करें!

पुष्कर सिंह धामी
मुख्यमंत्री, उत्तराखण्ड

"21 शताब्दी का ये तीसरा दशक, उत्तराखण्ड का दशक है। उत्तराखण्ड एक ऐसा राज्य है, जहां दिव्यता और विकास एक साथ महसूस होता है। यह दिन दूर नहीं, जब दिल्ली-देहरादून के बीच की दूरी ढाई घंटे की रह जाएगी। देहरादून और पंतनगर हवाई अड्डे के विस्तार से हवाई कनेक्टिविटी मजबूत होगी। प्रदेश में हेली-टैक्सी सेवाओं का विस्तार किया जा रहा है तथा रेल कनेक्टिविटी को सुदृढ़ किया जा रहा है। यह सब कृषि, उद्योग, लॉजिस्टिक्स, भंडारण, पर्यटन और आतिथ्य के लिए नए अवसर पैदा कर रहा है। वहीं, हाउस ऑफ हिमालयाज वोकल फॉर लोकल और लोकल फॉर ग्लोबल की हमारी अवधारणा को और मजबूत करता है।"

नरेन्द्र मोदी
प्रधानमंत्री

- उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 सफलतापूर्वक संपन्न
- निवेश के लिए 3.5 लाख करोड़ रुपए से अधिक के एमओयू पर हस्ताक्षर
- 44 हजार करोड़ रुपए के निवेश प्रस्तावों को धरातल पर उतारने का कार्य प्रारंभ
- सफल आयोजन के लिए मुख्यमंत्री धामी और राज्य प्रशासन को मिली बधाई
- 'मेक इन इंडिया' की तर्ज पर 'वेड इन इंडिया' आंदोलन शुरू करने का प्रस्ताव
- ब्रांड हाउस ऑफ हिमालयाज लॉंच
- 30 से अधिक नीतियां लागू करके नीति-संचालित राज्य का सम्मान
- उत्तराखण्ड में भव्य कन्वेंशन सेंटर के निर्माण की योजना

उत्तराखण्ड में निवेश के कई कारण

उत्तराखण्ड में निवेश बढ़ाने के उद्देश्य से राज्य के विभिन्न सेक्टरों में 'निवेश मित्रों' की नियुक्ति की गई है। ये सभी मित्र 5 करोड़ रुपए से अधिक के पूंजी निवेश करने वाले उद्यमियों के लिए 'सिंगल पॉइंट ऑफ कांटेक्ट' के रूप में कार्य कर रहे हैं। मौजूदा समय की बात की जाए तो उत्तराखण्ड में परिवहन मार्गों का तेजी से विस्तार हुआ है। नए एयरपोर्ट के विकास, नई रेलवे लाइन के विस्तार, डेडिकेटेड फ्रेट कॉरिडोर, हेलीपोर्ट और रोपवे के निर्माण द्वारा कनेक्टिविटी के क्षेत्र में उत्तराखण्ड अपनी एक अलग पहचान बना रहा है।

वह दिन दूर नहीं, जब दिल्ली-देहरादून के बीच की दूरी मात्र ढाई घंटे की रह जाएगी। देहरादून और पंतनगर हवाई अड्डे के विस्तार से हवाई कनेक्टिविटी और मजबूत होगी। प्रदेश में हेली-टैक्सी सेवाओं का विस्तार और रेल कनेक्टिविटी को सुदृढ़ किया जा रहा है। इससे कृषि, उद्योग, लॉजिस्टिक्स, भंडारण, पर्यटन और आतिथ्य के लिए नए अवसर पैदा हो रहे हैं।

पर्यटकों को प्रकृति के साथ-साथ भारत की विरासत से परिचित कराने के उद्देश्य से थीम आधारित पर्यटन सर्किट बनाने की योजना है। प्रकृति, संस्कृति और विरासत को अपने में समेटे उत्तराखण्ड एक 'ब्रांड' के रूप में उभर रहा है। यहां निवेशक योग, आयुर्वेद, तीर्थ और साहसिक खेल आदि के क्षेत्रों में नए अवसर तलाश सकते हैं।

उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 की मुख्य विशेषताएं

12 से अधिक फोकस सेक्टर | 4 सहभागी देश | 200 से अधिक निवेश अनुकूल परियोजनाएं | 13 जिला स्तरीय इवेंट | 75,000 करोड़ से अधिक रेडी निवेश अनुकूल परियोजना लागत | 16 सत्र | 6000 से अधिक एकड़ उपलब्ध लैंडबैंक |

फोकस सेक्टर

- ऑटोमोबाइल्स
- सूचना प्रौद्योगिकी
- हर्बल एवं एरोमैटिक्स
- कृषि एवं कृषि सम्बद्ध क्षेत्र
- जैव प्रौद्योगिकी
- औषधि
- आयुष एवं वैलनेस
- खाद्य प्रसंस्करण
- फ़िल्म शूटिंग
- हॉर्टिकल्चर एवं फ्लोरीकल्चर
- अक्षय ऊर्जा
- शिक्षा
- पर्यटन
- इलेक्ट्रॉनिक्स
- नेचुरल फाइबर

निवेश जगत में अलग पहचान बनाता उत्तराखण्ड

मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी के 'युवा नेतृत्व में युवा प्रदेश' जिस गति से आज आगे बढ़ रहा है, इसका श्रेय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की दूरगामी सोच को जाता है। उत्तराखण्ड के सर्वांगीण विकास के लिए युवा मुख्यमंत्री पूर्ण समर्पण के साथ कार्य कर रहे हैं। बाहरी प्रदेशों में बड़े निवेशकों को आकर्षित करने की दिशा में लगातार सार्थक कदम उठा रहे हैं। सभी को बेहतर औद्योगिक माहौल देने के लिए राज्य की धामी सरकार लगातार प्रयासरत है।

पीएम मोदी द्वारा 'हाउस ऑफ हिमालयाज' का शुभारंभ

31 मिनट समिट को संबोधित किया पीएम ने

उत्तराखण्ड के उत्पादों को इंटरनेशनल मार्केट में नई पहचान दिलाने के लिए राज्य सरकार द्वारा नई पहल की शुरुआत की गई है। उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 के उद्घाटन समारोह में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा 'हाउस ऑफ हिमालयाज' का शुभारंभ किया गया। इससे अब महिला स्वयं सहायता समूहों के उत्पादों को वैश्विक स्तर पर पहचान और वृहद स्तर पर बाजार उपलब्ध होगा। राज्य सरकार के इस अद्भुत प्रयास से अब उत्तराखण्ड के 65,000 से अधिक महिला स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी 5.25 लाख महिलाओं के सामने से अब उनके द्वारा तैयार उत्पादों की ब्रांडिंग का संकट दूर होगा। राज्य सरकार ने काफी मेहनत के बाद इन उत्पादों के लिए 'अंबेला ब्रांड' के रूप में 'हाउस ऑफ हिमालयाज' तैयार किया है। इस पहल के प्रथम चरण में भौगोलिक संकेतक प्राप्त राज्य के उत्पादों को प्राथमिकता दी गई है। शीघ्र ही प्रदेश के महिला समूहों के अन्य उत्पादों को इसमें शामिल किया जाएगा।

'हाउस ऑफ हिमालयाज' से महिलाएं सशक्त

महिला स्वयं सहायता समूहों के उत्पादों की ब्रांडिंग के लिए आने वाली परेशानियों को दूर करने के उद्देश्य से प्रदेश सरकार द्वारा 'हाउस ऑफ हिमालयाज' की शुरुआत की गई है। पहले समूह की महिलाएं अपने सभी उत्पादों को अलग-अलग नाम से बिक्री कर रही थीं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने पिछली बार अपनी माणा यात्रा के दौरान उत्तराखण्ड सरकार को सुझाव दिया था कि स्थानीय उत्पादों को बढ़ावा देने के लिए एक ब्रांड होना चाहिए। धामी सरकार ने प्रधानमंत्री के इस विचार पर अमल करते हुए समूहों के उत्पादों के लिए 'अंबेला ब्रांड' बनाने का निश्चय किया। कई उच्च स्तरीय गहन मंथन के बाद इन उत्पादों की ब्रांडिंग के लिए 'हाउस ऑफ हिमालयाज' नाम को अंतिम स्वरूप दिया गया।

उत्तराखण्ड के उत्पादों को मिली नई पहचान

उत्तराखण्ड ग्लोबल इन्वेस्टर्स समिट 2023 के अवसर पर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने अन्य करोड़ों की परियोजनाओं के साथ 'हाउस ऑफ हिमालयाज' नामक 'अंबेला ब्रांड' का शुभारंभ किया। जिसके तहत, अब समूहों द्वारा तैयार किए जाने वाले उत्पाद 'हाउस ऑफ हिमालयाज' के नाम से बाजार में आएंगे। इन उत्पादों की क्वालिटी एवं पैकिंग आदि पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया है। हाउस ऑफ हिमालयाज ब्रांड उत्तराखण्ड के स्थानीय उत्पादों को विदेशी बाजारों तक ले जाने का एक अभिनव प्रयास है। देवभूमि उत्तराखण्ड के उत्पाद स्वाद और सेहत जैसे कई प्राकृतिक गुणों से भरपूर हैं। मौजूदा समय में हिमालय की गोद से निकलने वाले ये उत्पाद हिमाद्री, हिलांस और ग्राम्य-श्री जैसे नामों से बाजार में जाने जाते हैं। लेकिन, अब ये दमदार उत्पाद 'हाउस ऑफ हिमालयाज' के नाम से जाने-पहचाने जाएंगे। यानी उत्तराखण्ड के महिला समूहों द्वारा तैयार अलग-अलग उत्पाद अब 'हाउस ऑफ हिमालयाज' के नाम से दुनियाभर में अपना कमाल दिखाएंगे। हाउस ऑफ हिमालयाज, उत्तराखण्ड के उत्पादों को वोकल फॉर लोकल से लोकल टू ग्लोबल बनने में मदद करेगा।

सूचना एवं लोक सम्पर्क विभाग, उत्तराखण्ड द्वारा जनहित में जारी | www.uttarainformation.gov.in uttarakhandDIPR DIPR_UK uttarakhand DIPR